प्रकाशक—
सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल
जोधपुर।

मिलने का पता
जिनवाणी कार्यालय
जयपुर।

मूल्य ढाई रुपये
वीर संवत् २४८४
विक्रम संवत् २०१५
अक्टूबर १९५८

लागत ५०० प्रतियां

छपाई	६००)
कागज	२२०)
ब्लाक	५६)
बाइंडिंग	१००)
	९७६)

मुद्रक :—
जिनवाणी प्रिंटर्स रामगंज बाजार जय

प्रकाशक के दो शब्द

जिसकी आप वर्षों से प्रतीक्षा करते थे उस "रत्नवंश" परिचय को आज सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त खुशी हो रही है।

महापुरुषों का जीवनवृत्त न सिर्फ श्लाघनीय वरन् स्पृहणीय और स्मरणीय भी होता है। यों तो मण्डल ने उपाध्याय श्री हस्तीमलजी म० द्वारा सम्पादित अन्यान्य पुस्तकें भी प्रकाशित की हैं किन्तु इस इतिहास के प्रकाशन का महत्त्व कुछ और ही है। संतजनों की पुण्यदायिनी जीवनी का प्रकाशन यदि जीवन में प्रकाश न करें तो दूसरा कर ही कौन सकता है?

यद्यपि इसके मुद्रणादि में बहुविध विलम्ब हुए मगर फिर भी यह प्रकाश में आ ही गया।

इसके प्रकाशन में समाज का बड़ा सहयोग रहा है, खासकर पीपाड़ के मूथा रावतमल्ल जी की प्रेरणा से रीयां श्रावक संघ ने "सुन्दर बाई चंगेरिया फंड" से ५००) का सहयोग दिया और जोधपुर निवासी राय साहिब विलमचंदजी भंडारी ने २००) प्रकाशनार्थ देकर मंडल का उत्साह बढाया एतदर्थ मंडल की ओर से हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं तथा आशा करते हैं कि समाज के अन्य दातागण भी इसी तरह अपने द्रव्य का सदुपयोग कर समाज को उपकृत करेंगे।

अन्त में मंडल इसके लेखक, सम्पादक और सहायकादि सभी सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद देता है।

जयपुर
अक्टूबर १९५८

—भंवरलाल बोथरा

सम्पादकीय निवेदन

चिर प्रयास के बाद यह 'रत्नवंश परिचय' पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मुझे अतीव प्रसन्नता हो रही है।

प्रस्तुत रत्नवंश परिचय या "आदर्श विभूतियाँ" पूर्व के आचार्य और वर्तमान के उपाध्याय प्रवर पण्डित रत्न श्री हस्तीमल जी महाराज के ऐतिहासिक संग्रह का एक आदर्श स्वरुप है। इसमें उन संतों के जीवन की संक्षिप्त झिलमिल झांकी है, जिनके तप, त्याग और लोक-हितैषी भावनाओं के आगे राजा व रंक सदा नतमस्तक रहे हैं। जिन्होंने मन, वचन व कर्म से कभी स्वप्न में भी दूसरों का अहित नहीं सोचा और जो सदा एक मन से जगत जागृति के संग आत्म जागृति के लिए चिन्तनशील बने रहे "आदर्श विभूतियां" उन्हीं प्रातःस्मरणीय श्रद्धेय संत जनों की जीवनी का एक छोटा सा अलवम है।

जयपुर नगर में वि० सं० २०१० में लोकवाणी प्रेस में इस का मुद्रण कार्य प्रारम्भ हुआ। श्री सिरहमल्ल जी वम्ब एवं भंवरलालजी बोथरा तथा प्रकाशचन्द्रजी बोथरा ने इस के प्रकाशन में समय समय पर अपना अमूल्य सहयोग दिया।

कार्य आरंभ के अनुकूल यद्यपि प्रकाशन तो इसका बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था, किन्तु "श्रेयांसि बहु विघ्नानि" इस लोकोक्ति के अनुकूल इसे भी बहुविघ्न बाधाओं के बीच होकर गुजरना पड़ा। श्री वम्बजी के शारीरिक व कौटुम्बिक विघ्न कारणों से बहुत कुछ पृष्ठ प्रकाशन के बाद इस का काम बिल्कुल रुक गया। इसी तरह इन बीते वर्षों में भी एक न एक बाधा आती ही रही। जिससे चाहते हुए भी ठीक समय पर इसका प्रकाशन संभव नहीं हो सका। फिर भी देर से ही सही इसके प्रकाशन से मुझे बेहद खुशी है।

साहित्य के क्षेत्र में सम्पादक का कार्य महा महत्वपूर्ण माना जाता है। जैसे किसी उद्यान की रुप रेखा उसके माली के कर्तृत्व की अपेक्षा रखती है वैसे कोई भी साहित्य सम्पादक के व्यक्तित्व से अलग नहीं

माना जा सकता। भाषा, भावशैली आकार प्रकार सब पर किसीन किसी रूप में सम्पादकीय व्यक्तित्व की छाप छायी रहती है। सम्पादक चाहे तो बुरे से बुरे लेखों को सुघड़ सलोना, और सुन्दर से सुन्दर कृति को भी बेघड़ एवं घिनौना बना सकता है। सम्पादकीय प्रमाद अक्सर अर्थ का अनर्थ भी कर देता है। अतः सम्पादक का दायित्व प्रकाशित कृति में पूर्ण रूपेण समझा जाता है, यह सर्वथा निर्विवाद सत्य है।

मुझे यह मानने में कुछ भी हिचक नहीं है कि इस चारु कृति का सम्पादन जैसा चारुतम होना चाहिए वैसा चाहते हुए भी नहीं हो सका। एक तो आरंभ से ही इस में सुनियोजित कार्यक्रम का अभाव, दूसरा समय बहुलता एवं निरीक्षण की अस्तव्यस्तता आदि त्रुटियों ने इसकी चारुता, मनोहारिता एवं सुघड़ता छीन कर इसे अपरूप बना डाला। फिर भी मौलिकता के मोल भी कम अनमोल नहीं हैं।

संशोधनादि दोष से मात्रादि की त्रुटियां भी जहां तहां रह गयी है। आशा है कृपालु पाठक उन्हें सुधार कर पढ़ेंगे। सुज्ञेषु किं बहुना—

—पं० दुःखमोचन झा

आमुख

इतिहास क्या है ?

मानव विकास के मूल में उसके मौलिक पुरुषों के चारित्रिक स्वरूप का सर्वतोमुख अपेक्षित सहयोग रहा है। हम में जो कुछ भी ज्ञान, विज्ञान, महत्ता, सदाशयता और उदारतादि सद्गुण पाए जाते हैं, वे हमारे पूर्वजों की ही अनमोल देन हैं। वृक्ष जैसे पृथ्वी के रस और खाद्य से सम्पुष्टि पाकर हरित-भरित पत्रित पुष्पित और फलित होता है, वैसे हम भी अपने पूर्वजों के आचार विचार संस्कार एवं ज्ञान विज्ञानादि के सहारे सबल और संपुष्ट बनते हैं। परम्परा की यह कड़ी पीढ़ी दर पीढ़ी को जोड़ती आरही है और सदा जोड़ती ही रहेगी। पूर्वजों के तत्कालीन जीवन वृत्त को इतिवृत्त या इतिहास कहते हैं।

इतिहास का महत्व ?

इतिहास का महत्व सर्वविदित है, विशेषकर ऐसे युग में जिसमें कि मानवीय स्मरण शक्ति क्षीणतम बनती जा रही है। हमारे पूर्ववर्ती लोग कैसे थे ? उनके विचार क्या थे ? व्यवहार कैसे थे और तप-त्याग की गरिमा कितनी थी ? ये सब इतिहास के बल पर ही जाने जाते हैं।

इतिहास पूर्व परम्परा के ज्ञान के साथ मनुष्य को भविष्य के लिए सत्प्रेरणा भी प्रदान करता है। इतिहास के सहारे ही मानव बीती बातों को जान पाता और अच्छे बुरे के रूप में उनसे आचरण का सबक सीख पाता है। इतिहास रूपी रामायण से हमें भली-भाँति विदित हो जाता है कि राम की तरह आचरण करना चाहिए, रावण की तरह नहीं।

इतिहास प्राचीन संस्कृति की कसौटी, अतीत कालीन सभ्यता की मनोभूमि और पूर्वजों की धरोहर या विरासत है। जिस समाज के पास अपना कोई इतिहास नहीं निश्चय उसका अतीत अन्धकारमय ही नहीं वरन् वर्तमान के संग भविष्य भी अस्पष्ट ही बना रहेगा। अतएव आदिकाल से सुसंस्कृत समाज में इतिहास लेखन की परिपाटी है।

प्रस्तुत इतिहास लेखन

पाठकों को यह सहज ही जिज्ञासा होगी कि रत्नवंश परिचय या "आदर्श विभूतियाँ" नामक इस प्रस्तुत पुस्तक का लेखन एवं सम्पादन क्यों और कैसे हुआ ? इतिहास के महत्व और महामहिम उपयोग को देखते हुए कई बार ऐसी इच्छा हुई कि प्राचीन जैन इतिहास का संकलन कर उसे नवीन रूप दिया जाय ! भगवान् महावीर से लेकर आजतक जिन शासन कैसी २ परिस्थितियों से निकला और किन २ आचार्यों ने कब कैसे धर्म की रक्षा व प्रभावना की, इसकी प्रामाणिक जानकारी के आधार पर एक जीवनवृत्त संग्रह किया जाय !

संयोग से १९९३ का चातुर्मास अजमेर नगर में हुआ और सहसा मन में विचार आया कि इस वर्ष इसी अभिलषित काम को आगे बढ़ायें। तदनुकूल वयोवृद्ध पं० दुःखमोचनझा जी ने पहले तीर्थंकर चरित्र का आलेखन प्रारम्भ किया एवं हेमचन्द्र सूरि कृत त्रिषष्ठि शलाका चरित्र और मूलागम से यथालब्ध सामग्री संकलित की । बाद में भगवान महावीर से लोंकाशाह तक की यथोपलब्ध सामग्री भी संचित की गयी।

इसमें लोंकागच्छ पट्टावली, प्रभुवीर पट्टावली, मुनि मणिलाल जी म० कृत ऐतिहासिक नोंध, पट्टावली समुच्चय, खरतरगच्छ पट्टावली आदि से भी सहायता ली गयी। पर्याप्त सामग्री के अभाव में मन को प्रेरणा मिलती रही कि कुछ करना चाहिए।

जिन शासन का मध्यकाल

मध्यकाल में जिन शासन ने बड़े २ चढ़ाव उतार देखे हैं। विविध संकटों और संघर्षों को पार करके आचार्यो ने शासन ज्योति को बुझने से बचाए रक्खा है, किन्तु व्यवस्थित रूप में यह सब लिपिबद्ध नहीं किया गया। केवल अपने २ गच्छ की पट्टावली के रूप से कुछ नोंध की गई । नाम स्थान, और काल का उसमें भी पूरा निर्देश नहीं हो सका, यही कारण है कि आज हम बहुतसी बातों का प्रामाणिक निर्णय नहीं कर सकते । और तो क्या वीर निर्वाण २००० में लोंकाशाह ने धर्मक्रान्ति की और उसके पश्चात् शिथिलता निवारण के लिए लवजी, जीवराजजी, धर्मसिंहजी, धर्मदासजी आदि कुछ महापुरुषों ने क्रिया उद्धार किया और कठोर साधना एवं दृढ़ संकल्प से वे उसमें सफल भी हुए किन्तु आज उनका भी हमारे पास कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं है।

कोई पहले क्रिया उद्धारक लवजी को मानते हैं तो कोई जीवराजजी को। किसी पट्टावली में धर्मदासजी की धर्मसिंहजी से चर्चा बताई गयी है तो कहीं कान्हजी ऋषि के पास चर्चा व दीक्षा की बात कही गयी है।

एक पट्टावली कहती है कि लवजी सोमजी म० ने धर्मदास जी के ८ बोल मान्य नहीं किये इसलिये धर्मदास जी ने स्वयं दीक्षा ली दूसरी पट्टावली कहती है कि कान्हजी म० ने धर्मदासजी के १७ बोल नहीं माने आदि-आदि।

तीसरा लेख है—धर्मदासजी ने धर्मसिंहजी म० को कहा कि अगर आप अपनी और हमारी श्रद्धा एक करो तो मैं आप से दीक्षा लूँ। मगर धर्मदासजी के २० बोलों को धर्मसिंहजी म० ने मान्य नहीं किए इसलिए धर्मदासजी ने ३ सज्जनों के साथ दीक्षा ग्रहण करली। और कहीं लिखा है कि सात जनों से धर्मदासजी ने १७१६ के आश्विन शुक्ला ११ सोम को अभीच नक्षत्र के समय अहमदाबाद में दीक्षा लेली।

ऐसे मतभेदों का एक मात्र कारण लिखित सामग्री का अभाव ही है। इन सब बातों को देखकर विचार हुआ कि श्री धर्मदासजी म० के पट्टधर कुछ युग पुरुष जिनके कि हम निकट सम्बन्ध में हैं-उनका भी तो यत्किंचित् परिचय प्रगट कर दिया जाय अर्थात् पूज्य रत्नचंदजी म० से आज तक की जो बातें पुराने पन्नों व वृद्ध साधु साध्वियों से मालूम हो सके, संकलित करली जाय। जिससे दूसरे लेखकों को प्रेरणा मिलेगी और छिपी सामग्री भी प्रकाश में आ सकेगी।

इतिहास लेखन में सहयोग

वयोवृद्ध मुनिवर भोजराजजी म० जो तीन २ आचार्यों के शासन काल में सेवा कर चुके थे, अतः बहुतसी बातें उनकी स्मृति में थीं, उनके सहयोग और पू० हम्मीरमलजी म० द्वारा लिखित पट्टावली, चतुर्मास और कुछ नोंध पत्र एव गुण की ढालों से सामग्री संकलन में अच्छी सहायता मिली है।

इस तरह श्रावक वर्ग की प्रेरणा और पं० श्री दुःखमोचनझाजी के आलेखन सहयोग से १९९३ में ही यह कार्य सम्पन्न हो गया। जिस समय इसका लेखन हुआ उस समय अलग २ सम्प्रदायें थीं अतः इसमें उस दृष्टि से विचार होना सहज है।

अजमेर चातुर्मास के बाद स्वर्गीय सेठ चंदनमलजी मोतीलालजी मूथा (सतारा) के अत्याग्रह से दक्षिण की ओर विहार हो गया और वहां से लौटने में सात वर्ष लग गए। इस बीच शास्त्र लेखनादि कार्यों में उलझ जाने के कारण इतिहास का लक्ष्य ओझल बन गया।

दक्खिन से लौटने के बाद २००५ के ब्यावर चातुर्मास में फिर श्रावक वर्ग की ओर से इतिहास के लिए आग्रह और निवेदन होने लग गए। स्थानीय साहबचंदजी सुराणा, सोहनराजजी डोसी व कुंभटजी आदि ने इतिहास को तैयार कराने का निर्णय किया। वयोवृद्ध सुश्रावक सिरीचंदजी अब्भाणी और लाभचंदजी सुराणा से भी परामर्श किया व पुरानी बातें जो संकलन के लायक थीं सुनीं।

अन्त में पंडितजी के द्वारा तैयार की गई कापी को पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की देख रेख में वसंत कुमारजी से प्रेस कापी तैयार करली गई। यही है इतिहास लेखन और सम्पादन की राम कहानी।

उपसंहार

पूज्य कुशलजी म० से पूज्य विनयचंदजी म० तक का संक्षिप्त परिचय इसमें दिया गया है। पूज्य शोभचन्दजी म० का जीवन वृत्त "अमरता का पुजारी" नाम से अलग प्रकाशित किया जा चुका है-अतः यहां उसका विस्तृत परिचय नहीं दिया गया।

पूर्ववर्ती आचार्य पू० धर्मदासजी पू० धन्नाजी और पूज्य भूधरजी का भी सँक्षेप में ही परिचय दिया गया है। पूज्य जयमल्लजी म० का भी कुछ उल्लेख किया है। पूज्य रघुनाथजी म० का जीवन परिचय छप चुका है, अतः यहां पट्ट परम्परा का ही निर्देश किया है।

अन्तमें मैं इसे स्वीकार करता हूं कि जैसा मैं चाहता था वैसा तो यह नहीं हो पाया किन्तु "स्वान्तःसुखाय के संग थोडा ही अगर इससे लोकहित हो सका तो हमारा यह प्रयास सर्वथा व्यर्थ नहीं माना जायगा। अलमधिकेन—

सब्जी मण्डी
वीर सं० २४८४
विक्रम सं० २०१५
अक्टूबर १९५८

मुनि गजेन्द्रः

पद्यमयं किञ्चिदितिवृत्तम्

संप्रदायस्य पूर्वाऽऽचार्याः—

मूतेऽम्भः कमलं ह्यदः परिमलं सोऽपि प्रमोदं नृणां,
बीजं सङ्कुरुतेऽङ्कुरं सच तरुं सोऽपि प्रवालं फलम् ।
इत्थंभूतपरम्परःमनुसरन् सद्वंशकेतुं कलि,
जेतुं धर्मनिधिर्व्यधादधिधरं श्री रत्नचन्द्रं परम् ॥१॥

अर्थः—जल कमल को पैदा करता है और कमल सुगन्धि को उत्पन्न करता है, वह सुगन्धि भी मनुष्यों को आनन्द उत्पन्न करती है । इसी प्रकार बीज अंकुर को और अंकुर वृक्ष को पैदा करता है । वृक्ष भी नव पल्लव एवं क्रमशः फूल फल पैदा करता है इस प्रकार की परम्परा का अनुसरण करते हुए श्री धर्मदासजी महाराज ने उच्च वंश की विजय–वैजयन्ती के समान कलि काल को एवं पाप को जीतने के लिए पृथ्वी पर पूज्य श्री रत्नचन्द्र का विधान किया ॥१॥

भुवोरत्नं दिवश्चन्द्रः प्रच्छन्नं रजनीचरः ।
प्रकटश्चानिशाटश्च रत्नचन्द्रो मुनीश्वरः ॥२॥

अर्थः—पृथ्वी का चन्द्र छिपा रहता और आकाश का चन्द्र रात्रिचर है, लेकिन मुनीश्वर रत्नचन्द्र इन दोनों दोषों से दूर प्रकट स्वरूप और दिवाविहारी (दिन में विहार करने वाले) थे ॥२॥

केतु रासीन्मुनीनां जये चान्वये हेतुभूतः प्रभूतश्च सेतुस्तथा ।
लोकसत्ता-अरित्तारणायां तरी-रत्नचन्द्रौ महत्त्वान्वितौ तौ यथा ॥३॥

अर्थ—पूज्य रत्नचन्द्रजी महाराज मुनियों के लिये विजय वैजयन्ती के समान, मुनि वंश के हेतु और संसार-सागर के सेतु के समान, लौकिक मर्यादा रूपी नदी से पार उतारने में नौका के समान, ठीक ही रत्न और चन्द्र की तरह महत्त्व वाले थे ॥३॥

स्वार्थमेकातपत्रं विरेजेऽवना-
वस्तमास्ताऽपरार्थं निरर्थं भवत् ।
कोऽपिनैवो-पचक्रेऽतिवक्रे कलौ,
क्रूरता शूरता सुश्रिता निस्सृता ॥४॥

अर्थ--इस विकट कलि (पञ्चम) कालमें स्वार्थ का एक छत्र राज्य था। परोपकार निरर्थक हो रहा था, कोई किसी का उपकार नहीं करता था, क्रूरता ने आश्रय पाया था, वीरता निराश्रित सी थी। ॥ ४ ॥

ऐसे, पंचम काल में पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी महाराज प्रकाश में आये

संस्कृत काव्य करण कारणम्:—

यः प्राकृताद्धितरणात्सुरभिनलेभे
सोऽपीह लब्धु मति दुर्लभ सेति यत्नम् ।
क्रीणाति तं परिमलं नकुतो निसर्गा-
दामोद-सर्ग-निपुणोऽपि जनस्तमीयात् ॥५॥

अर्थ--देखनें में आता है कि-सहज संयोग से जिसको सुगन्धि नहीं मिली, वह व्यक्ति भी उस सुगन्धि को पाने के लिए अतिशय यत्न करता है, और उस को खरीदता है। फिर जो निसर्ग से सुगन्धि का अधिकारी है (उसका वितरण तक करता है) तो क्यों न वह उसको काम में लेवें? भाव यह है कि-जिनको संस्कृत का कुछ भी बोध नहीं, वे भी अपने गुरुजनों की स्तुति के रूप में २।४ श्लोक जैसे तैसे बनवा लेते हैं तो फिर जिनका संस्कृत वाङ्मय में पूर्ण अधिकार है, वे अपने गुरुजनों के लिए क्यों न उस में रचना करें? ५ ॥

सत्यां मतौ सगुण काव्य विधान शक्तौ,
संवर्णनीयचरिते सति मान्यवृन्दे ।
मौनं निरीक्ष्य मुनिमन्यजनं तथैव,
मन्येत कोऽपि विदुषामलसं वृथाज्ञम् ॥६॥

अर्थः—काव्य निर्माण में समर्थ बुद्धि के होने पर और वर्णनीय मान्यजनों की विद्यमानता में भी यदि मुनि या अन्य जन को कोई चुप देखे तो उसे विद्वानों में आलसी तथा व्यर्थ पण्डित मानेगा ॥६॥

शुद्धिश्चमत्कृतिरथो प्रतिभाऽनुभूतिः,
स्फूर्तिः समुन्नतिरलङ्कृतिरस्ति यत्र ।
सत्काव्य निर्मिति विधेर्यदि सा प्रतीपा,
तीव्रानुतापविषया खलु शेमुषी स्यात् ।।७।।

अर्थः--शुद्धि, चमत्कार, प्रतिभा, अनुभव, स्फूर्ति, प्रगति और अलंकार जिसमें इतने साधन हों, उनकी बुद्धि यदि उत्तम काव्य निर्माण में नहीं लगे तो वह बुद्धि तीव्र सन्ताप का विषय बन जाती है ।।७।।

साहित्य वस्तुमति संस्कृत-वाङ्मयेऽत्र,
दत्तादरो विपुलशक्तिधरो नरो नो ।
नेत्थं विनिश्च्य कविरस्तु कृतावहित्थः,
सत्सु प्रसत्सु सुरगीर्न निरादृता स्यात् ।।८।।

अर्थ--आज सत्साहित्य से परिपूर्ण संस्कृत वांङमय में प्रबलशक्ति रखने वाले मनुष्य भी आदर नहीं दिखाते हैं, ऐसा सोच कर भी कवि को अपने आकार का गोपन (छिपाना) नहीं करना चाहिए, क्योंकि-सज्जनों के रहते यह संस्कृत वाणी अनादृत नहीं हो सकती है ।।८।।

नोच्चारुता न शुचिता न गभीरतापि,
गीर्वाणगीः स्वगुरुतां न तथापि जह्यात् ।
रिक्ताम्बराऽऽभरण-वर्ण-सुमादि-सर्गैः,
दृष्टि विशिष्टपदगौरव मेति गात्रे ।। ९ ।।

अर्थ--सुन्दरता, पवित्रता, और भावों की गम्भीरता न भी हो तथापि संस्कृत वाणी अपनी गुरुता (श्रेष्ठता) को नहीं त्याग सकती है । जैसे वस्त्रालंकार एवं कुसुममाला से रहित भी आंख समस्त शरीर में विशेष गौरव को पाती है ।। ९ ।।

अथाभिधेयवस्तूपादानम्ः—

भूकाल शरभू संख्या प्रमिते वैक्रमेऽब्दके ।
अहमदाबादपुरे, लोकाशाहाऽभिधोऽभवत् ।। १० ।।

अर्थः—विक्रम संवत् १५३१ के समय अहमदाबाद नगर में लोकशाह नें धर्मोद्धार किया ॥ १० ॥

पृष्टः सभ्यैः समाचष्ट, स स्पष्टं श्रावकोत्तमः ।
सिद्धानां नागमे मूर्ति-चर्चा नैतत्समर्चना ॥ ११ ॥

अर्थः—सभ्यों के पूछने पर वे उत्तम श्रावक लोकाशाह स्पष्ट बोले कि जैनागम में न सिद्धों की मूर्ति चर्चा है और न उनकी पूजा ही है ॥ ११ ॥

बालस्फूर्ति-मयीमूर्ति-र्हतां नैव कल्पते ।
तेना गमान्निजगदे, जगदेक हितात्मना ॥ १२ ॥

अर्थः—जगत् के एक मात्र हित चाहने वाले शाहजी ने शास्त्र प्रमाण से कहा कि—यह मूर्त्ति कल्पना बालकों की स्फूर्ति है जो अर्हतों के योग्य नहीं है ॥ १२ ॥

तस्योपदेशात्साधूनां स्वागमस्यानुरागतः ।
साधवः सम्प्रदायं स्वं पूर्ववद् विदधुर्मुदा ॥ १३ ॥

अर्थ—साधुओं के प्रति उनके उपदेश से और अपने आगम के अनुराग से साधुओं ने, अपने सम्प्रदाय का निर्माण किया ॥१३॥

आवर्ते निवासिनामिहरुचिस्त्यागे यथा वर्धते,
नेत्थं भौतिकवर्द्धनादिषु मतिर्हेतोरतो विस्तृता ।

द्वात्रिंशन्मित-सम्प्रदाय-निचयाः सन्तीह पक्षाविमौ,
श्रूयेते कलहस्य धर्मनिचयस्याऽमी हि ते हेतवः ॥१४॥

अर्थ—इस संसार में भारत वासियों की रुचि जैसे त्याग में बढ़ी चढ़ी है वैसे भौतिक पदार्थों की वृद्धि में नहीं है । यही कारण है कि सम्प्रदाय चारों और फैल गई और वे ३२ संख्या तक जा पहुँची । उनके विषय में दो पक्ष हैं । एक कहता है कि—धर्म की स्थिरता और प्रचार सम्प्रदायों से है । यदि ये सम्प्रदायें न हों तो क्या धर्म इस रूप में न रहे । दूसरा पक्ष कहता है कि यह सम्प्रदाय ही कलह का कारण है ॥१४॥

आम्नाया न समामनन्ति पुरुषं कार्यस्त्वया विग्रहः,
शश्वत्तेऽत्र समादिशन्ति पुरुषान् सत्यं क्षमा संयमः ।
सौजन्यं विनयो नयः प्रतिपलं सर्वैश्च सर्वात्मना,
पाल्यंते पृथगङ्कतामुपगताः सन्तीति कात्र क्षतिः ॥१५॥

अर्थः—सम्प्रदाय किसी मनुष्य को नहीं कहती कि तुम्हें परस्पर लड़ना चाहिए अथवा तुम कलह करो । देखने में आता है कि सम्प्रदाय तो सदा उपदेश देती है सत्य, क्षमा, संयम, सौजन्य, विनय, नीति को प्रतिक्षण सर्वावस्था में सबसे पालन करवाती है । इस प्रकार अखण्ड सिद्धान्त का उपदेश देने वाली यदि वे ३२ संख्याओं में पृथक् २ हैं तो इसमें क्षति क्या है ? ॥१५॥

राज्यार्थं बहुशोऽत्र राजपुरुषाः शश्वद्विभक्ताः पदैः
सम्यक्सन्दधते, न तेषु कलहः पार्थक्यतो जायते ।
आसीनाः श्रमणाः क्षमादि पदवीवृन्देऽपि सन्दादराः,
पार्थक्यात्कलहे परस्परकृते श्रद्धातु-मीहे नहि ॥ १६ ॥

अर्थः—राज्य की व्यवस्था के लिए अधिकारों के विभाग पूर्वक कई पुरुष भिन्न पदों पर रक्खे जाते हैं और वे परस्पर बिना विरोध के अपनें अपने अधिकारोंका अच्छी प्रकार पालन करते हैं । फिर क्षमा, शांति दया आदि पदों में प्रतिष्ठित ये साधु पृथक २ रहने से कलह के कारण बनते हैं यह बात श्रद्धास्पद नहीं हो सकती है ॥ १६ ॥

वीरे मोक्षगते वियोगविकले क्षुब्धे स्वसङ्घेऽधमे-
काले पञ्चम आगतेऽतिबहुले विश्वक् प्रपञ्चेऽपिच ।
आम्नायो यदि नागतो भुवि भवेच्छ्वेताम्बरश्चेत्तदा,
वीरोपज्ञतपोमयो दृशमियाद्धर्मः क्वचित्पुस्तके ॥ १७ ॥

अर्थ—भगवान् महावीर के मोक्ष पधारने पर और वियोग विकल श्री संघ के क्षोभ में पड़जाने पर एवं पंचम काल जैसे अधम काल के उपस्थित होने पर तथा सब ओर प्रपञ्च फैलने के समय यदि यह श्वेताम्बर साधु सम्प्रदाय प्रचलित

नहीं होती तो भगवान महावीर कथित यह जैन धर्म किसी पुस्तक में ही लिखा दिख पडता, अर्थात् आचरण में रहना तो असम्भव ही था॥ १७ ॥

पृथ्वीकाल-शरावनि-प्रगुणिते वर्षे प्रकर्षे जनाः,
पञ्चाश त्प्रमिताश्च पञ्च रहिताः शिष्याः सुदीक्षां दधुः ।
लोकाशाह गुरोर्गिरा प्रमुदितास्तं ख्यापयाञ्चक्रिरे,
लोकागच्छममुं कृतज्ञमतयः कीर्तिं गुरोश्चादरात् ॥१८॥

अर्थः-- १५३१ वैक्रम संवत् में ४५ विरक्त पुरुषों ने साथ दीक्षा ली। इन सबों ने लोकाशाह जी से ही प्रबोध पाया था, इसलिए कृतज्ञतावश इन्होंने अपने गच्छ को 'लोकागच्छ' इस नाम से ही ख्यात किया। साथ ही गुरु स्थानापन्न लोकाशाह की भी आदर से कीर्ति फैलाई ॥ १८ ॥

लोकाशाह उवाह संयम-पदं द्वात्रिंशदात्मागमात्,
पंचापीह महान्ति संकथितवान् सम्यग् व्रतान्यादरात् ।
गच्छ स्थापन भावनाऽपि परमा पूता तदीयाऽभवद्,
दुःखञ्चेद मियं बभूव सफला नो कीर्तिलुब्धैर्जनैः ॥१९॥

अर्थः--लोकाशाह नें ३२ आगम रूप सिन्धु से संयम मार्ग निकाला और यत्न पूर्वक पंच महाव्रतों को कहा, तथा गच्छ स्थापना की उनकी परम पवित्र भावना थी। फिर भी दुःख की बात यह है कि वह सद्भावना कीर्ति लोलुपों ने नहीं चलने दी ॥१९॥

लोकागच्छः--

स्वच्छ पक्षति सम्भूतो लोकागच्छो विधूपमः ।
सफलो न कुतो ? यत्र पंच लक्षमिता जनाः ॥२० ॥

अर्थः--शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के चन्द्र के समान लोकागच्छ सफल नहीं हुआ--ऐसा क्यों कहा जाय ? जब कि पांच लाख जन समुदाय इस गच्छ के आज भी अनुयायी हैं ॥२०॥

लोकाशाहे गुणो आगमाब्धि ममन्थ सः।
मति मन्थानकं धृत्वा, नेहांचक्रे स्वसत्कृतिम् ॥२१॥

अर्थः—लोकाशाह में अपूर्व गुण था, जिससे कि बुद्धि रूप मन्थन दण्ड से उन्होंने आगम समुद्र को मथ लिया और अपनी कीर्ति की इच्छा नहीं की ॥२१॥

आवात्सीत्सङ्घ सेवार्थं, व्याचख्यावागमं स्वकम्।
इति वृत्तं तमोलीनं, तदीयं नोपलभ्यते ॥२१॥

अर्थः—आपने संघ सेवा के लिये प्रवास किया, और अपने आगमों पर व्याख्यान दिया, फिर भी आपका पूर्ण इतिहास अन्धकार में ही है, जो कि दुष्प्राप्य है ॥२२॥

कश्चिद् ब्रूते बहु-विभववान् भूरि विद्वानभूत्सः,
प्राचष्टेऽन्यः प्रवचन पटुः स प्रतीपान् व्यजेष्ट।
अद्याप्येको भुवि न खलु यस्तत्पुरे तस्य वीथी,
वन्नासीदित्यप्यवितथमिदं ख्याति तन्मान्यमूलम् ॥२३॥

अर्थ—कोई कहता है कि शाह जी बहुत बड़े धनी थे, दूसरा कहता है कि आप एक चतुरवक्ता थे तथा विरोधियों को परास्त किया। किन्तु आज तक एक भी ऐसा यहां नहीं हुआ, जो बताता कि लोकाशाह की अहमदाबाद नगर की किस गली में जन्म भूमि थी। कोई भी इस विषय में मान्य प्रमाण नहीं कहता है ॥ २४ ॥

कञ्चित्कालं विमलमुनिता तत्कृतोच्चैश्चचाल,
प्राप्तान्ता सा यतिभिरभवद्वैभवाऽऽरम्भ दम्भैः।
आयुर्वेदं गणितमथवा शाकुनं योगशास्त्रम्,
सामुद्रं वाऽकृषत यतयस्तत्प्रशस्तं स्वशस्त्रम् ॥ २४ ॥

अर्थ—उनकी चलाई हुई शुद्ध साधुता कुछ समय तक तो अच्छी चली, किन्तु धनों के आरम्भ समारम्भ में लीन तथा परवञ्चन में प्रवीण ऐसे यतियों ने

उसका अवसान कर दिया। इन यतियों ने आयुर्वेद, गणित (फलित) शकुन शास्त्र योग शास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र जो कि प्रशस्त थे उन्हें अपना शस्त्र बना लिया अर्थात इन प्रशस्तशास्त्रों से वे नाम मात्र के यति लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगे ॥ २४ ॥

चतुष्टये श्रीयुतसङ्घ आविरभूद्यतिः पंचम एष सर्गः ।
दध्रे सुवर्णादि परिग्रहेणाऽसुनात्यधस्ताद् गृहिणां निसर्गः ॥२५॥

अर्थ—यह यति वर्ग चार प्रकार के श्री संघ में पांचवा वर्ग बन बैठा । स्वर्ण आदि परिग्रहों के ग्रहण से इन लोगों ने गृहस्थियों के स्वभाव को नीचा कर दिया । ॥२५ ॥

अथ साधुमार्ग सम्प्रदायारम्भः—

सिद्धूयम्बरेषुधरणी गुणितेऽब्दके वा,
वेदाग्निबाण धरणी गुणितावधीतत् ॥
लोकामतं निजपदं भुवनेऽत्र लेभे
ख्यातीति वृत्त निपुणो निजसंग्रहेण ॥२६॥

अर्थः- विक्रम सम्वत १५०८ से वि० संवत १५२४ तक इस संसार में लोंका गच्छ ने अपनी प्रतिष्ठा सत्ता लाभ की, ऐसा इतिहास निष्णातों का कहना है, पट्टावली समुच्चय का ऐसा मत है, फिर भी हमने यहां १५३१ में लोंका गच्छ का आरम्भ माना है ॥ २६ ॥

युग प्रधान आचार्य श्री धर्मदासजी म०
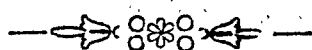
जीवराज जी आचारज ने पाटे धर्मदासजी स्वामी विराजिया। धर्मदासजी आचारज १५ वर्ष संसार पणे रया पीछे ५ वर्ष जाजेरा वारह व्रतधारी श्रद्धा पोत्या वंधनी रही ने १५ दिन सामान्य प्रवरज्या पाली। पीछे ५२ वर्ष आचारज पणे रया। सर्व दीक्षा ५२ वर्ष जाजेरी पाली। सर्व आयुष्य ७२ वर्ष का। वीरना निर्वाण सु २२४३ वर्ष हुवा पछे समत १७७३ के वर्ष में धार नगर मध्ये देवलोक हुवा।

विशेष हकीकत इस प्रकार है—

संमत १७१५ की साल में अहमदावाद पासे आवेला सरखेज गांव मां धर्मदासजी करीने रहता हुतां। तेमना पिता नो नाम जीवण भाई करीने हुतो। ते तेमनी न्यात मां मुख्य मालिक हतां। ते जातना भावसार हुतां। धर्मदासजी वालपणा थी. जं बहुं भाग्यवंत हुंता। ते लूंका यति पासे सूत्र सिद्धांत नो अभ्यास कीनो। अने जैन धर्म ने विषय निपुण थया। वहु सूत्र सिद्धांत भणवाथी तेहनो मन अस्थिर संसार उपर थी उठी गयो ते समय पोतिया वंध श्रावक प्रेमचंदजी मिलिया। उनके उपदेश सांभलीने संसार त्यागी ने प्रेमचंदजी का चेला हुवा। उनके पास समत १७१६ की साल में श्रावण सुदी १३ के दिन श्रावक पणो धारण कियो। पांच वर्ष श्रावक पणो पाल्यां पछे उत्तम मुनी नी संगत सु सुश्रद्धा आई तरे पोत्या वंधनी श्रद्धा मोसराई। पीछे संयम लेने की इच्छा हुई तरे एवो विचार करी वीजा इक्कीस जणां संघाती, साथ लेइ ने प्रथम ते लवजी अणगार पासे आव्या। अने धर्म चर्चा चलावी तेहनी परूपणां मां ७ बोलनो फेर पड़ियो। तीण सु एहने पासे दीक्षा न लीयी, पछे ते दरियापुरनां धर्मसिहजी मूनि पासे आव्या ने चर्चा चलावी तो परूपणां मांहि २१ बोलनो फेर पड़ियो तिण सु एह ने पासे दीक्षा न लीयी। पछे जीवराजजी स्वामी सु चर्चा चलायी घणी जे जे प्रश्न पूछिया तेहना जवाब सिद्धांत और न्याय सु दीना, तरे धर्मदासजी दिल मां विचार करियो के एह महामुनि पासे दीक्षा लेणी मने जोग छे: एह वो विचार करी ने एक तो पोते आप, दूजा २१ जणा एम २२ जणां साथे अहमदावाद वाहिर वादशाह वाडी मां समत १७२१ री साल में कार्तिक मासे सुदी ५ ने जीवराजजी स्वामी ने पासे दीक्षा धारण करी धर्मदासजी महाराज। धनराजजी आदि २१ जणां पूज्य श्री धर्मदासजी ना चेला हुवा। कार्तिक सुदी ५ ने पछे

महापंडित श्री धर्मदासजी महा० प्रथम दिवसे गोचरी कुंभार पाडा में गया, आहार पाणी नो पूछियो तरे एक कुंभार कयो के रख्या छे, तिवारे धर्मदासजी महाराज कयो के तुमारा भाव होय तो वेरावो एम कयो तथा पात्रो धरियो तिवारे पेली बाइए पात्रा मां सुडले करीने ऊचे थी राख नांखी। ते राख उडीने बाहिर पडी। थोडी घणी पात्रा मां पड़ी ते बेरी लाया ने पूज्य श्री जीवराजजी स्वामी आगल धरी। पछे गुरु महाराज एम बोलता हुआ हंसिया। आज प्रथम गोचरी मां आहार सूं मिलियो छे:? तिवारे धर्मदासजी हाथ जोडी ने एम बोलता हुआ ? हे स्वामी नाथ महाराज! आज मने राख मिलीनी बात कहो ते सांभली ने श्री जीवराजजी महाराज श्रुत ज्ञान सुं दृष्टि लगायने एम बोलिया। हे शिष्य! तुमे तो महा भागवंत छो। जेम राख बिना घर नहीं तेम तुमारा श्रावक बाई भाई विना गांव रेसी नहीं ने पात्रा मां थी राख उडी ने बाहिर पडी तेथा तुमारे घणा शिष्य होसी ।, तुमारा थो तुमारा चेला नां घणां जुदा २ सिवाडा थासे । एहवो गुरु महाराज नो वचन प्रमाण करी गोचरी गया तेहनी इरिया वहि ५ डिकमी ने पछे थोडी घणी पात्रा में पडी ते राख कपडा सु छांण ने ऊंना पाणी मां नाखी ने महा मुनिजी पी गया। धर्मदासजी दीक्षा लीधां पछे १५ वें दिन समत १७२१ का मगसर वदि ५ ने जीवराजजी स्वामी देवलोक हुआ। तेथी लोकां मां एवी बात बिस्तरी के धर्मदासजी स्वमने दीक्षा लीधी। गुरु नहीं। ए बात लोक मां झूंठी बिस्तरीछे दूसरो कारण धर्मदासजी महाराज महा भाग्यशाली हुआ। तेमना गुरु दीक्षा लीधा पछे १५ दिन रह्या ने धर्मदासजी नो आताप नाम कर्म तुरत बोहत वधियो ते थी धर्मदासजी नो नाम प्रकट रयो छै:। थोडी मुदत मां श्री धर्मदासजी ए सिद्धांत मार्ग ने अनुसारे जैन धर्म प्रवरतायो अने देश विदेश विचरी ने जैन धर्म की महिमा वधाई। घणां श्रावक वैराग्य पाम्यांथां। अल्पकाल मां महामुनि धर्मदासजी ने ९९ शिष्य थया। तेहना नामः— १ धनराजजी २ लालचंदजी ३ हरिदासजी ४ जीवाजी स्वामी ५ वडा पृथवीराजजी स्वामी ६ हरिदासजी स्वामी ७ छोटा पृथवीराजजी स्वामी ८ मूलचन्दजी स्वामी ९ ताराचन्दजी स्वामी १० अमरसिंहजी स्वामी ११ खेताजी स्वामी १२ पदारथ जी स्वा० १३ लोकमनजी स्वामी १४ भवानीदासजी स्वामी १५ मलूकचंदजी स्वामी १६ पुरुषोत्तमजी स्वामी १७ मुकुटरायजी स्वामी १८ मनोहरजी स्वामी १९ गुरुसहायजी स्वामी २० समरयजी स्वामी २१ वाघजी स्वामी समत १७२१ की साल में कार्तिक मासे शुक्ल पक्षे पंचमी तिथी ने एह २१ जणां री दीक्षा एक दिन हुई । धर्मदासजी रा चेला हुआ। २२ भेलजी स्वामी २३ लल्लूजी स्वामी २४ रणछोडजी स्वामी २५ लवजी स्वामी २६ वाघजी स्वामी २७ अमरसिंहजी स्वामी २८ बलदेवजी स्वामी २९ गोरधनजी स्वामी ३० राजमलजी स्वामी ३१ मणीलालजी स्वामी ३२ मोहनजी

स्वामी ३३ उत्तमचन्दजी स्वामी ३४ रंगलालजी स्वामी ३५ मोहरसिंहजी स्वामी ३६ बक्षीरामजी स्वामी ३७ धर्मचन्दजी स्वामी ३८ दीपचंदजी स्वामी ३९ देवीचंदजी स्वामी ४० मालचंदजी स्वा० ४१ कल्याणजी स्वामी ४२ जगभाणजी स्वामी ४३ रतिरामजी स्वामी ४४ निहालचंदजी स्वामी ४५ केसरजी स्वामी ४६ भीवराजी स्वामी ४७ मनरूपजी स्वामी ४८ चंद्रभाणजी स्वा० ४९ लिछमणजी स्वामी ५० जसरूपजी स्वामी ५१ गाडमलजी स्वामी ५२ कुशालजी स्वामी ५३ केवलचंदजी स्वामी ५४ सरदारमलजी स्वा० ५५ चोथमलजी स्वामी ५६ उदयसिंहजी स्वा० ५७ बालकिशनजी स्वा० ५८ शिवलालजी स्वा० ५९ जयसिंहजी स्वामी ६० जत्तोजी स्वामी ६१ हीरालालजी स्वामी ६२ प्रसन्न चंदजी स्वामी ६३ किसनचंदजी स्वा. ६४ जसरूपजी स्वा० ६५ फूलचंदजी स्वामी ६६ फतेहचंदजी स्वामी ६७ जेठमलजी स्वामी ६८ रुगलालजी स्वामी ६९ बालोलालजी स्वामी ७० कालिदासजी स्वामी ७१ कनीरामजी स्वामी ७२ अगरचंदजी स्वामी ७३ करणीदान जी स्वामी ७४ दानमलजी स्वामी ७५ हमीरमलजी स्वामी ७६ गेनमलजी स्वामी ७७ मंगलचंदजी स्वामी ७८ नेणचन्दजी स्वामी ७९ उगरजी स्वामी ८० कालूरामजी स्वामी ८१ सोमजी स्वामी ८२ वालूजी स्वामी ८३ रायभाणजी स्वामी ८४ देवजी स्वामी ८५ अजरामरजी स्वामी ८६ सूरजमलजी स्वामी ८७ वनेचन्दजी स्वामी ८८ भारमलजी स्वामी ८९ रामनाथजी स्वामी ९० लवजी स्वामी ९१ रतनचन्दजी स्वामी ९२ वीर-भाणजी स्वामी ९३ मेघराजजी स्वामी ९४ पूनमचन्दजी स्वामी ९५ रणजीतसिंहजी स्वामी ९६ खूबचन्दजी स्वामी ९७ मानमलजी स्वामी ९८ हस्तीमलजी, स्वामी ९९ सुमेरमलजी स्वामी। ए ९९ चेला पूज्य श्री धर्मदासजी म० के हुआ। तेहना नाम जाणवा। एम् घणों परिवार थयो। ९९ चेला ना तथा उणांरा चेलानां चेलांनों परिवार बहुत वध्यो। तरे मारवाड, मेवाड़, मालवा, नीमाड़, खानदेश, दक्षिणदेश, गूजरात, काटियावाड़, झालावाड़, कच्छदेश, वागरदेश, सोरठदेश, पंजाबदेश आदि अनेक देशांनां विहार करियो तरे जैन धर्म नों उद्योत घणों हुवो। अथवा बीस समुदायनी थापना कौनसे वर्ष हुई ते कहे छै: पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज रे ९९ शिष्य हुआ ते मांय सु इक्कीस समुदाय थपाणी। देश मालवो शहर धारानगर में समत् १७७२ चेत सुदि १३ दिने २२ समुदाय थपाणी। तेहना नाम लिख्यते:—
१ पूज्य श्री धर्मदासजी नों सिंघाड़ो २ पूज्य श्री धनराजजी नो सिंघाड़ो ३ पूज्य श्री लालचन्दजी नो सिंघाड़ो ४ पूज्य श्री हरिदासजी नो सिंघाडो ५ पूज्य श्री जीवाजी नो सिंघाड़ो ६ पूज्य श्री बड़ा पृथ्वीराजजी नो सिंघाड़ो ७ पूज्य श्री छोटा हरि-दासजी नो सिंघाड़ो ८ पूज्य श्री छोटा पृथ्वीराजजी नो सिंघाड़ो ९ पूज्य श्री मूल-चन्दजी नो सिंघाड़ो १० पूज्य श्री ताराचन्दजी नो सिंघाड़ो ११ पूज्य श्री प्रेमराजजी नो सिंघाड़ो १२ पूज्य श्री खेणजी नो सिंघाड़ो १३ पूज्य श्री पदारथजी नो सिंघाड़ो १४ पूज्य श्री लोकमनजी रो सिंघाड़ो १५ पूज्य श्री भवानीदासजी नो सिंघाड़ो

१६ पूज्य श्री मलूकचन्दजी नो सिघाड़ो १७ पूज्य श्री पुरुषोत्तमजी नो सिघाड़ो १८ पूज्य श्री मुगटरायजी नो सिघाड़ो १९ पूज्य श्री मनोहरदासजी नो सिघाड़ो २० पूज्य श्री गुरुसहायजी नो सिघाड़ो २१ पूज्य श्री समरथजी नो सिघाड़ो २२ पूज्य श्री वाघजी नो सिघाड़ो। ए २२ समुदाय रा नाम जाणवा वडी समुदाय रो नाम श्री धर्म दासजी महाराज रा नाम थी थपाणो। इक्कीस समुदायना नाम—पूज्य श्री धर्म दासजी ना चेलां रा नाम थी थपाणा। ए २२ सिघाड़ां रा नाम जाणवा। पूज्य श्री धर्मदासजी ना पाट धनराजजी स्वामी पाट विराजिया ए ७७ वां पाटवी। धनजर जी आचारज २१ वर्ष संसार में रहीने इकावन वर्ष सामान्य प्रवरज्या पाली। पीछे इग्यारह वर्ष आचारज पणे रया। सर्व दीक्षा बासठ वर्ष पाली। सर्व आउखो ८३ वर्ष नो। वीरना निर्वाणसु २२५४ वर्ष हुआ। समत् १७८४ में देवलोक हुआ। अथ: पूज्य श्री धनराजजी महाराज री उत्पत्ति लिख्यते:—पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज नें ९९ चेला थया। तेमां वडा चेला धनराजजी स्वामी हुआ। देश मारवाड़ परगनों सांचोर नो गांव मालवाड़ो तिणरा कामदार मुत्था बाघाजी जातरा पोरवाड़ तिणरा बेटा धन्नाजी नो जन्म समत् १७०१ री साल आसोज सुदि विजय दशमी रो जन्म हुवो। तीणरे घरे हजारां रा धन छोड़ी सगाई छोड़ी ने समत् १७१३ की साल में प्रेमचन्दजी कनें पोतिया बंध वाला कने श्रावक पणो धारण कीनो, तिणां रा चेला हुआ। प्रेमचन्दजी कने आठ वर्ष आसरे रया। पछे समत् १७२१ रा कार्तिक सुदि ५ ने पोतिया बंध छोड़ी ने पूज्य श्री धर्मदासजी कने (साथे) दीक्षा लीधी। मारवाड़ में घणां विचरिया एक घी राखि ने चार विगय रा त्याग किया। घणी तपस्या कीनी। घणां वर्षां तक रातरा आडो आसन कीनो नहीं। घणा कालताई एकांतर कीधा. पछे घणा वर्ष मेड़ता नगर में ठाणां विराजिया। नव मास बेले २ पारणां करतां शरीर की शक्ति थकी देखीने कयो के अबे तो शरीर उत्तर दीयो दीसे छे: तरे साधु बोलिया के पूज्य जो महाराज आपतो बेले२ पारणो करोइज छो। तरे पूज्य श्री बोलिया अबे तो थांभो धान खाय तो धन्नो धान खाय। चोविहार संथारो पचक्खियो। दो दिन रो संथारो आयो। समत १७८४ आसोज सुदि विजय दशमीं ने दोय घड़ी दिन चढ़ियां संथारो सीझियो सर्व आयुष्य ८३ वर्ष की हुई। धनराजजी आचारजजी के पाट बूधरजी स्वामी विराजिया। ७८ वां पाटवी। बूधरजी महाराज पचास वर्ष संसार में रहीने सात वर्ष सामान्य प्रवरज्या पाली। पीछे २० वर्ष आचार्य पणे रया। सर्व दीक्षा २७ वर्ष पाली। सर्व आयुष्य ७७ वर्ष की हुई। वीरना निर्वाणसु० २२७६ वर्ष हुआ। समत १८०४ की साल देवलोक हुवा। समत १७८४

नोट—१. इक्कीस जनें साथ दीक्षा लेकर धर्मदासजी महाराज के शिष्य बनें उस नामावली में यहां अमरसिंहजी का नाम है।

पूज्य श्री घनराजजी रे पाट पूज्य श्री बुधरजी विराजिया। कार्तिक वदि ५ ने तेहनो ख्यात लिख्यते :—

पूज्य श्री बूधरजी महाराज नागोर ना वासी जातना मुणोत समत १७२७ रा जेठ सुदि ११ री जन्म। पूज्य श्री बूधरजी ना पिता माणकचन्दजी पछे नागोर सु जायने सोजत में रया थका बूधरजी महाराज स्त्री बेटा घणो धन छोडी ने समत १७७७ रा सावण सुदि ६ रे दिन दीक्षा लीवी। बेले२ पारणो आदि घणी तपस्या आतापना लीवी। अभिग्रह कीधा। नानाप्रकार ना घणा जीवां ने धर्म पमाडी। पूज्य श्री बूधरजी ने ९ शिष्य थया तेहना नाम लिख्यते :—

१—श्री रुगनाथजी, २—श्री जेतसीजी, ३—श्री जयमल्लजी, ४—श्री कुशलाजी, ५—श्री नारायणजी, ६—श्री रूपचन्दजी, ७—श्री रतनचन्दजी, ८—श्री गोरधनजी, ९—श्री जगरूपजी। ए नव चेला थया। घणो उद्योत धर्म नो कियो। समत १७८४ रा माहा सुदि १० ने दिने बूधरजी महाराज ने आचारज पद दीधो। श्री बूधरजी महाराज समत १८०४ रा फागण सुदि १५ पछे तीन आहार ना पचक्खान किया था। सो अबे समत १८०४ रा चौमासा में पूज्य श्री बूधरजी महाराज पांच उपवास ना पारणों करिया पछे शरीर में खेद हुई। तरे सन्थारो करियो। संथारो दो पहर को आयो। समत १८०४ रा आसोज सुदि विजय दशमी ने देवलोक हुआ। भूधरजी महाराज ने पाट पूज्य श्री रुगनाथजी महाराज पाट विराजिया। ७९ वां पाटवी। रुगनाथजी महाराज इक्कीस वर्ष ने तीन मास जाजेरा संसार में रहीने १७ वर्ष सामान्य प्रव्रज्या पाली। पीछे ४२ वर्ष आचारज पणे रया। सर्व दीक्षा ५९ वर्ष पाली। सर्व आयुष्य ८० वर्ष की हुई। वीरना निर्वाण सु २३१६ वर्ष हुआ। समत १८४६ री साल में देवलोक हुआ। पूज्य श्री बूधरजी रे पाट पूज्य श्री रुगनाथजी महाराज विराजिया। समत १८०४ की साल नें आचारज पद जोधपुर शहर में दीवो। पूज्य श्री रुगनाथजी सोजत ना वासी हतां। जातरा बडलावत हता। पूज्य श्री रुगनाथजी रो जन्म समत १७६६ री साल में माहग सुदि ५ नें हुवो। संसार पक्ष मां अनेक शास्त्रों ना जाणकार हुआ। वैराग्य पाम्या ने आत्मा ने तारवा माटे अनेक मत मतान्तर जोया। पण आत्मा तिरे जेवो एक ही धर्म देख्यो नहीं। तेवारे सोजत शहर ने बाहिर एक चामुण्डा देवी नो मन्दिर हुंतो ते वक्त मां चामुण्डा देवी नो प्रत्यक्ष परचो पड़े। जे ना २ भाग मां जेवी प्राप्ति होय तेवा चामुण्डाजी तेहनी आशा पूर्ण करे तिवारे रुगनाथजी ए विचार करियो के हमारे तो संसार ना सुख नी चायना न थीं। एहवो विचार करीने चामुण्डाजी ना मन्दिर रुगनाथजी जायने तेलो पचक्खियो। ध्यान धरीने बैठा। तेला ना तीसरा दिन री रात ने प्रत्यक्ष देवी आवी ने हाजिर हुई के तू तीन दिवस थी भूखो केम बैठो छैं। जे इच्छा होय

तेह मांग । तिवारे रुगनाथजी महाराज कयो के मारे कोई संसार ना सुख री चायना नथी। एक मुक्तिना मार्ग री जरूरत छै, तेहनों सांचो मार्ग बतायो। तिवारे चामुण्डाजी ज्ञान मां देखी कयों के आज दिन ऊगां शहर सूं पूर्व दिशे गांव वगड़ी के रास्ते पूज्य श्री बूधरजी महाराज ठाणा सात थी आवशे तेहना तमे शिष्य हो जो सो तुमारी आत्मानो कल्याण होजासी । इतरा समाचार देवी ना सुणने दिन ऊगां पछे त्यां थी उठीने पाधरा देवी बतायो तिण रास्ते गया । आगे रास्ता मां पूज्य श्री भूधरजी महाराज नां दर्शन करतीं वक्त मन में सन्तोष आवी गयो । पूज्य श्री भूधरजी महाराज शहरमां पधारिया तेहनी वाणी साभलीने समत १७८२ री साल में पूज्य श्री भूधरजी नो चौमासो सोजत मां हुवो । तरे श्री रुगनाथजी पूज्य श्री भूधरजी सु प्रश्नरूप चर्चा बोहत घणी कीनी। प्रश्न नो उत्तर देतां ही दिल मां सांची समझकर जैन धर्म सांचो जाणियो। बयांसिया ना आसोज में श्री रुगनाथजी, पूज्य श्री भूधरजी महाराज रे पासे प्रतिबोधाणा । उण वगत में १७ वर्ष नां हुतां, चौरासिये का फागण सुदि ११ ने श्री रुगनाथजी शीलव्रत धारण कीनो। पूज्य श्री भूधरजी कने समत १७८७ रा जेठ वदि २ बुधवार ने दीक्षा २१ वर्ष ने तीन मांस जाझेरा हुता तरे रुगनाथजी दीक्षा लीधी। मोटे मंडाण सु पूज्य श्री भूधरजी कने श्री रुगनाथजी महाराज ने तेवीस चेला हुवा।

समत १८४६ रा माघ सुदि ११ दिने शहर मेड़ते में देवलोक हुआ।

[जयतारण भंडार से पं० मुनि श्री शोभाचंदजी महाज के शिष्य मुनि श्री अमरचंद जी महाराज द्वारा सं० १९५७ में लिखित प्राचीन पट्टावली से उद्धृत ।]

❋ पूज्य जयमल्लजी ❋

भूधर जी म० के प्रमुख शिष्यों में रघुनाथ जी म० और दूसरे जयमल्ल जी म० हुए हैं। आप कुशलचंद जी म० के बड़े गुरु भाई थे। आप बड़े त्यागी और धर्म प्रभावक होगए हैं। आपका संक्षिप्त जीवन वृत्त इस प्रकार है।

आपका जन्म मेड़ता के पास लांबिया गांव में हुआ। आपके पिता का नाम "महता मोहन दास जी और माता का नाम महिमादे" था।

संवत १७८७ में पूज्य भूधर जी का चातुर्मास मेड़ता था। चातुर्मास के दिनों किसी व्यापारिक काम से आप भी मेड़ता पधारे। प्रातःकाल जब आप बाजार गए तो दुकान बन्द मिली—पूछने पर मालूम हुआ कि—लोग महाराजश्री के व्याख्यान में गए हैं। अतः आप भी व्याख्यान सुनने के लिए उपाश्रय चले गए।

पूज्यश्री उस समय शेठ सुदर्शन की धर्म कथा का प्रवचन कर रहे थे। उस धर्म प्रवचन का आप पर इतना असर पड़ा कि आपने वहीं-शीलव्रत का नियम ले लिया। आपके विवाह को थोड़े ही दिन हुए थे अतः भरी जवानी में घर में तरुणी गृहिणी के रहते हुए आपका यह शील व्रत धारण घर वालों के लिए महान संताप का कारण बन गया। आप के पिता मोहनदासजी तथा अन्य कुटुम्बी जन आपको समझाने एवं व्रत विमुख करने के लिऐ मेड़ता आगए। किन्तु बहुतेरे समझाने बुझाने के बाद भी आप अपने नियम से पीछे हटने को तैयार नहीं हुये। समझाने का सारा प्रयत्न विफल रहा और भोग ने योग के आगे घुटने टेक दिए। हार कर माता पिता ने दीक्षा ग्रहण की आज्ञा देदी।

१७८७ मार्ग कृष्णा १ को आपने प्रतिक्रमण तैयार कर कृष्ण २ को मुनिव्रत ग्रहण करलिया।

आपकी त्याग भावना अतिशय उच्च व वर्द्धिष्णु थी। दीक्षा लेते ही आपने यह प्रण कर लिया कि गुरुदेव की उपस्थिति में निरन्तर एकान्तर तप और पांचों तिथियों में विगय सेवन नहीं करेंगे।

आपकी बुद्धि इतनी निर्मल और तीक्ष्ण थी कि अल्प समय में आपने शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन कर लिया। जटिल से जटिल विषयों को भी सरलता से समझने में आपने निपुणता प्राप्त करली। फलतः आपके शास्त्रीय ज्ञान की ख्याति चारों तरफ फैल गयी।

एक समय साधु नियमानुकूल विचरते हुए आप अपने गुरुदेव के साथ पीपाड़ पधारे और गुरुभाई कुशलचंद्रजी के संग भिक्षा के लिए गांव में निकले। रास्ते के एक उपाश्रय में पोत्याबंध श्रावकों को बैठे देखकर आप उनके भीतर गए वहां भगवती सूत्र का वाचन हो रहा था। आपको देखकर पोत्याबंध चमक गए। आपने उनको प्रतिबोध दिया और भगवती सूत्रके पाठ से प्रमाणित किया कि पंचम आरे के अन्त समय तक मुनिधर्म निरवच्छिन्न चलता रहेगा।

एक समय जोधपुर से बड़लू नागोर होते हुए आप बीकानेर पधार रहे थे तो बड़लू में आपके उपदेश से 'उदाजी' और "केशव जी" दीक्षित हुए। विचरण करते हुए जब आप बीकानेर के दरवाजे पहुँचे तो यतियों ने आप सबको भीतर प्रवेश करने से रोक दिया। रोक देखकर आप पीछे लौट आए और एक कुंभार की आज्ञा लेकर छत्री में ठहर गये। भिक्षा के अभाव में ८ दिन वहां आटा पीकर बिताये मगर मन में किसी प्रकार ग्लानि नहीं की।

संयोग से एक दिन बीकानेर दीवान की माता रामकंवरबाई रथ में बैठकर कहीं बाहर जारही थी। दासियों ने मुनिराज को छत्री में बैठे देखकर कहा सेठानी जी! वे वहां आपके गुरुदेव विराजे हुए हैं। सेठानीजी ने जब पर्दा हटाकर देखा तो सचमुच पूज्य जयमल्ल जी म० छत्री में विराजमान थे यह देखकर बाई के हर्ष का पार नहीं रहा। तत्काल रथ से उतरकर उसने गुरु चरणों में वन्दन किया और बोली कि महाराज! आप यहां बाहर कैसे? नगर में क्यों नहीं पधारे? मुनिश्री ने बाई को सारी बातें बतादीं जो सुनकर उनको बड़ा दुःख हुआ। वह लौट कर घर में उदासमना सोगयी। भोजन के समय दीवान ने माता को नहीं देख कर पूछा तो मालूम हुआ कि वे भीतर हैं। दीवान महल में जाकर बोले कि माता जी? आप चिन्तित क्यों हैं? चल कर भोजन करें। आपके बिना हम भी नहीं खायेंगे। अतः अगर हम को खिलाना है तो चलकर खायें।

मां ने कहा बेटा! मुझे भोजन तो क्या अभी तुम्हारी बात भी अच्छी नहीं लगती जाओ तुम भोजन करलो। उदासी का कारण पूछने पर मां ने कहा कि गुरुदेव नगर के बाहर भूखे बैठे हैं यति उन्हें भीतर नहीं आने देते। जब तक वे यहां पधार कर आहार ग्रहण नहीं करेंगे तब तक मुझे भी अन्न लेने का त्याग है।

माता की बात से दीवान को भी दुःख हुआ और वे भोजन छोड़कर तत्काल राजा के पास गये और बोले कि महाराज! आप अपनी चाबियाँ संभालिये हम से अब काम नहीं होगा। राजा के पूछने पर आपने सारी बातें बतादीं। राजा ने कहा आप खुशी से अपने गुरु महाराज को नगर प्रवेश कराइये—किसकी हिम्मत जो उन्हें प्रवेश करने में बाधा दे। यदि कोई बाधा डालने की हिम्मत करेगा तो मैं उससे निबट लूंगा।

दीवान ने बड़ी प्रसन्नता से गुरुमहाराज का नगर प्रवेश कराया। पूज्यश्री बीकानेर में पहलेपहल पधारे थे अतः उनके विराजने से धर्म का बड़ा प्रभाव बढ़ा। यहां तक कि राजमहल में पूरे शेष काल तक आप विराजते रहे।

२२ वर्ष की अवस्था में दीक्षा लेकर ६५ वर्ष तक आपने उग्र तप की साधना करते हुये दयामय धर्म का उद्योत किया। अन्तिम समय नागोर स्थिरवास विराजे। १८५२ फा० सुद १० को आपके शरीर में असमाधि हुई। तब आपने श्रावक संघ के समक्ष फरमाया कि—अब मुझे संथारा करना है। श्रावकों ने रायचंद जी म० को बीकानेर विहार करने के समाचार दिलाये।

इधर पूज्य श्री ने संलेखना रूप से एकान्तर तप आरंभ किया ११ एकान्तर के बाद आपने बेला किया और फिर दूसरा बेला होने पर मुनिवर्ग और श्रावकोंने प्रार्थना की कि गुरुदेव! पारणा कीजिये। यह सुन कर आपने जवाब दिया कि मैंने तो मन से संथारा कर लिया है! वैद्य आदि सबके आग्रह करने पर भी जब आपने पारणा करना स्वीकार नहीं किया तब चै० शु० १५ शुक्रवार के दिन को चतुर्विध संघ के समक्ष संथारा कराया गया। एक महिने तक शुद्ध भाव से अनशन की आराधना कर वै० शु० चतुर्दशी को ७ प्रहर चौविहार तप से आपस्वर्गवासी हुये।

५० वर्ष तक आपने रात्रिमें आडा आसन भी नहीं किया—बाजोट के सहारे बैठ रात बिताई। कितनी विकट साधना और अप्रमत्तपन ? धन्य है ऐसे त्यागमूर्ति संतों को।

आपका विहार मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़, और मालवा आदि विभिन्न प्रान्तों में हुआ। चूरू फतेहपुर आदि विचरते हुये आप दिल्ली आगरा पधारे और गुजरात में भी धर्म प्रचार किया। अन्तिम १३ वर्ष नागोर स्थिर वास रहे। आप पूज्य कुशलदास जी म० के बड़े गुरु भाई थे। दोनों का प्रेम सम्बन्ध इतना गहरा और आकर्षक था कि शिष्य परम्परा होजाने पर भी दोनों वर्षों साथ २ रहे और धर्म भावों की अभिवृद्धि की।

—पट्ट परम्परा—

पूज्य श्री रघुनाथजी म०

पूज्य श्री टोडरमल्लजी म०

,, ,, दीपचन्द जी म०	श्री इन्द्रमल्लजी म०
,, ,, भेरूदासजी म०	तपोमूर्ति मानमल्लजी म०
,, ,, जेतसींजी म०	श्री बुधमल्लजी म०
,, ,, फोजमल्लजी म०	मंत्री मिश्रीलालजी म०
श्री सन्तोषचन्दजी म०	विद्यमान
श्री मोतीलालजी म०	

रघुनाथजी म० के एक शिष्य भीषमजी ने तेरापन्थ चलाया।

पूज्य श्री जयमल्लजी म०

,, ,, रायचन्दजी म०

,, ,, आसकरण जी म०

,, ,, सबलदासजी म०

,, ,, हीराचन्दजी म०

,, ,, किस्तूरचन्दजी म०

,, ,, कानमल्लजी म०

आपके बाद स्वामीजी श्री जोरावरमल्लजी, श्री चौथमल्लजी म० ने समुदाय का कार्य चलाया। वर्तमान में वयोवृद्ध श्री हजारीमल्ल जी म० श्री रावतमल्लजी म० व चांदमल्लजी म० विद्यमान हैं।

रत्नवंश के धर्माचार्य

सन्तों के महिमाशाली जीवन—

संसार महान है परन्तु आध्यात्मिक विभूतियों के जीवन उससे भी महान है। इन विरल विभूतियों के जीवन आकाश के समान, अनन्त, प्रशान्त-सागर से गम्भीर और हिमाचल के तुल्य उन्नत होते हैं। उनके जीवन में देदीप्यमान दिवाकर की दीप्ति ओर शरद् पूर्णिमा के चन्द्रमा की निर्मल कान्ति होती है। भौतिक वाद के चक्कर में फंसी हुई दुनिया के अन्धकारमय वातावरण में इन विरल विभूतियों के जीवन नीले आसमान में सितारों की तरह चमका करते हैं।

ये विभूतियां विश्व के लिए वरदान होती हैं। पाप के भयंकर दावानल से झुलसी हुई दुनियां को शान्ति प्रदान करने के लिए इनका धरातल पर जन्म होता है। सन्तों के रूप में प्रकृति, संसार को सजीव और सर्वोत्तम वरदान देती है।

वस्तुतः संत शान्ति के देव-दूत हैं। वे दुनिया के खून से लथपथ, उजड़े और सुनसान मरु-स्थल में शान्ति की निर्मल मन्दाकिनी प्रवाहित करने वाले अक्षय स्रोत हैं। वे विनाश की ओर तेजी से भागने वाली दुनिया को सावधान करने वाले लाल प्रकाश के स्तम्भ हैं। दुनिया के विशाल आंगन में सुख शान्ति के संचार का श्रेय संतों को है। संतों का परम पावन चरित्र सुख का मार्ग-प्रदर्शन करने वाला अनूठा आकाश दीप है उनकी जगमगाती हुई जीवन ज्योति जगत् को नव-जीवन प्रदान करती है।

जब तक दुनिया इन संतों के बताए हुए मार्ग पर चलती है तबतक सुख और शान्ति का साम्राज्य अविच्छिन्न रूप से बना रहता है। अब जब दुनिया दानवीय चंगुल में फंसकर संतों और उनके बताए हुए मार्ग का उपहास और अवहेलना करती है तब तब दुख का दानव उसकी छाती पर चढ़ कर अट्टहास करता है। दुनिया कराहती है, शान्ति पाने के लिए तड़फड़ाती है, और दुख से मुक्ति पाने के लिए तिलमिलाती है। ऐसी अवस्था से संत ही दुनिया को उबारते हैं। वे स्वयं कष्टों को झेलकर दुनिया को दानवीय चंगुल से मुक्त करते हैं। वे अपने चरित्र और उपदेश के द्वारा सोई हुई मानवता को जागृत करते हैं। वे मानव समाज में जागृति का पवन फूंक कर प्रबल प्रेरणा प्रदान करते हैं। ऐसे परमोपकारी संतों को पाकर दुनिया धन्य हो जाती है।

ऐसे आध्यात्मिक महापुरुषों के जीवन में ऐसे जीवन-तत्व होते हैं जिनके द्वारा अगणित प्राणी नवीन चेतना और नव-स्फुरण प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार एक

दीप से अगणित दीप प्रकाशित हो सकते हैं इसी तरह एक महापुरुष के जीवन तत्व से अगणित महापुरुष बन सकते हैं। उचित है कि:—

जीवन चरित्र महापुरुषों के हमें नसीहत करते हैं।
हम भी अपना अपना जीवन स्वच्छ रम्य कर सकते हैं॥

इसी आशय को लेकर यहां कतिपय विशिष्ठ आध्यात्मिक महापुरुषों के जीवन का आलेखन करना है। यद्यपि यहां किया जाने वाला आलेखन जैन धर्म के एक सम्प्रदाय विशेष तक ही सीमित है तदपि इसमें ऐसे तत्व हैं जिनसे जैन-धर्म का स्वरूप स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। क्योंकि धर्म संस्थापकों अथवा धर्म प्रचारकों की यथार्थ जीवनी धर्म स्वरूप को जानने की अचूक कुञ्जी होती है।

सम्प्रदाय परिचय

आधुनिक युग के प्रवाह में बहने वाले कतिपय व्यक्ति 'सम्प्रदाय' का नाम सुनते ही चिढ़ जाते हैं। वे झट बोल उठते हैं कि—'ये सम्प्रदाय ईर्षा, द्वेष कटुता और भेदभाव को बढ़ाने वाले हैं अतएव इनको जड-मूल से उखाड फेंकना चाहिए।' परन्तु ऐसा कहना अपनी बुद्धि की अपरिपक्वता का परिचय देना है। सम्प्रदाय अपने असली अर्थ में कोई अहित करने वाली वस्तु नहीं है। परन्तु जब मानव में स्वार्थ, अहंकार, मान-पूजा की लिप्सा आदि दोष घर कर लेते हैं तब वह फूट पैदा करता है, झगडा फसाद फैलाता है, अपने ही बन्धुओं के खून से अपने हाथ रंगता है, कत्ले आम करता है, दूसरों के अधिकारों को हड़प लेता है, और न जाने क्या २ अकर्त्तव्य कर्म करके मानवता को कलंकित करता है। इन कलंकित कार्यों के पीछे वास्तव में सम्प्रदाय नहीं किन्तु उसकी ओट में मानव का स्वार्थ, लोभ, अहंकार आदि दुर्गुण काम कर रहे हैं। देश में होने वाले दंगों को साम्प्र-दायिक कहना भी उपचार मात्र है। इन दंगों के पीछे भी मानव-हृदय में मजबूत घर किए हुए दुर्गुण ही हैं। इन दुर्गुणों को छिपाने के लिए सम्प्रदाय के नाम पर वे मढ़ दिये जाते हैं। वस्तुतः सम्प्रदाय झगडे का कारण नहीं होता।

सम्प्रदायों की योजना का उद्देश्य समुचित व्यवस्था करना है। सामूहिक व्यवस्था के लिए वर्गीकरण और विभाग करना आवश्यक होता है। एक बहुत बडे समूह की सुन्दर और सर्वांगीण व्यवस्था के लिए ऐसा किये विना कार्य नहीं चल सकता। जिस प्रकार राज्यतन्त्र को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए अलग २ महकमे और विभाग होते हैं और ऐसा होना अनुचित नहीं है, इसी तरह धर्मतन्त्र

के सर्वांगीण विकास के लिए सम्प्रदायों का होना अनुचित नहीं है। जिस प्रकार विशाल राज्यतन्त्र के संचालक के लिए कोष, सेना, न्याय, शिक्षा, यातायात, स्वास्थ्य, इत्यादि अनेक विभाग होते हुए भी सबका उद्देश्य एक ही होता है—प्रजा की भलाई। इसी उद्देश्य से अनेकानेक विभाग होते हैं और उनकी एकता से राज्य की—जनता की भलाई होती है। अगर वे सब विभाग अपने मूल आशय को भुला कर काम करें तो वे राज्य के लिए हानिकर हो सकते हैं अन्यथा नहीं। इसी तरह धर्म-तन्त्र के संचालन के लिए अनेक सम्प्रदाय हों तो यह अहितकर नहीं हो सकता बशर्ते कि उनमें आशय की एकता हो।

सम्प्रदायों की विविधता किसी के लिए घातक नहीं होती किन्तु सम्प्रदाय के नाम पर होने वाले ईर्षा, द्वेष, संकीर्णता, असहकार, बहिष्कार, आदि दुर्गुण घातक और बाधक होते हैं। अतएव सम्प्रदायों का नाश न करके ईर्षा, द्वेष आदि को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

जिस प्रकार वृक्ष की शोभा उसकी हरी-भरी डालियों और पल्लवित पत्रों से है उसी तरह धर्म की शोभा उसके विविध रूपों सम्प्रदायों से है। जिस प्रकार वृक्ष की शाखाएं परस्पर भिन्न होती हुई भी एक ही वृक्ष से सम्बन्धित हैं इसी तरह सम्प्रदाय भी विविध होते हुए भी एक ही धर्म से सम्बद्ध होने चाहिए।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रदायों का होना उन्नति में बाधक नहीं है। हां सम्प्रदायों में पारस्परिक वैमनस्य ईर्षा, द्वेष आदि न होने चाहिए इस प्रकार की सम्प्रदायों से धर्म उसी तरह शोभा देता रहेगा जिस तरह विविध शाखाओं से तरुवर शोभा देता है।

जैन धर्म कुछ नवीन नहीं, किन्तु अनादिकाल से धारावाहिक चला आ-रहा है। राज्यतन्त्र की तरह इसका बाह्य रूप बदलता रहता है फिर भी मूल वस्तु यथावत् बनी रहती है। जैसा कि शास्त्र में कहा है—

—'एवामेव दुवालसंगे गणिपिडगे—नकयाइ नासी नकयाइ नत्थि,
न कयाइ न भविस्सइ, भुविंच भवइ य भविस्सइय धुवे नियए'
सासए अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए निच्चे। नन्दी सूत्र

पंचास्तिकाय की तरह द्वादशांगी रूप श्रुतधर्म कभी नहीं था, नहीं है या नहीं होगा ऐसा नहीं है, क्योंकि यह भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। अतएव ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय और अवस्थित होने से

नित्य है। धर्म के साथ धर्मप्रवर्तकों का रहना अनिवार्य है क्योंकि–'न धर्मो धार्मिकैर्विना–धार्मिकों के बिना धर्म नहीं रह सकता। अतएव धर्म की सत्ता के साथ धर्म प्रवर्त्तकों की सत्ता स्वयं सिद्ध है। ऐसे धर्म प्रवर्तक दो प्रकार के होते हैं, एक स्वयं तन्त्र चलाने वाले जिनको तीर्थंकर कहते हैं और दूसरे प्रचलित तन्त्र के अधीन रह कर धर्म का रक्षण एवं प्रचार करने वाले। धर्म तन्त्र के संचालक तेवीस तीर्थंकरों के हो चुकने पर चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हुए। आज उन्हीं का धर्म शासन चल रहा है।

वीर निर्वाण के बाद की धार्मिक स्थिति और उद्धार—

भगवान महावीर ने आधि, व्याधि, उपाधिरूप त्रिताप से संतप्त प्राणियों को ताप–मुक्त करने के लिए धर्म की अमोघ देशना प्रदान की। युग-युगान्तर वर्ती, तीर्थंकरों ने जिस वस्तु का तत्व निरूपण किया वही भगवान महावीर की वाणी द्वारा पुनः पल्लवित हुआ। प्रभु महावीर ने शाश्वत सुख को प्राप्त करने का जो मार्ग बताया, उसे भव्यजनों के हित के लिए अतिशय ज्ञानधारी गणधरों न सूत्र रूप में ग्रंथित किया। भगवान की अमोघ वाणी सुधा का आस्वादन करके अगणित जीवात्माओं ने अपना परम और चरम कल्याण किया। कुछ काल तक यह कल्याण-परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आती रही।

भगवान महावीर के निर्वाण के कुछ काल बाद ही यह प्रपंचमय पंचम काल प्रारम्भ हो गया। अवसर्पिणी काल के स्वभावानुसार धर्म का भी क्रमशः ह्रास होने लगा। धर्म और धर्म गुरुओं में विकृति आने लगी। धीरे २ यह विकृति इतनी बढ गई कि निवृत्ति–प्रधान जैन धर्म सांसारिक प्रवृत्ति का कारण बन गया। दृढ वैराग्य और त्याग की भूमिका पर अवलम्बित जैन धर्म आडम्बर रूप हो गया। इस विकृति का किंचित् सूचन स्वर्गीय वाडीलाल मोतीलाल शाह के 'ऐतिहासिक नोंध और पं० बेचरदासजी कृत "जैन साहित्य मां विकारथवाथी थयेली हानि" नामक ग्रन्थ से मिलता है। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि धर्म का वास्तविक स्वरूप छिप गया था और बाह्य मूर्तिपूजा सम्बन्धी क्रिया-कलाप एवं आडम्बर में ही धर्म समझा जाने लगा था। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अगर वह प्रवृत्ति उसी रूप में चालू रहती तो त्याग और तपश्चर्या का मूर्तिमन्त ज्वलन्त धर्म केवल साहित्य की वस्तु ही रह जाता।

प्रकृति का नियम है कि किसी भी सद्भाव का अत्यन्ताभाव नहीं होता। धर्मका सच्चा स्वरूप अधिक काल तक छिपा नहीं रह सकता। आडम्बर थोडे

काल के लिए चल सकता है, किन्तु वह स्थायी नहीं हो सकता। धर्म के नाम पर आडम्बर चल सकता है किन्तु वह हमेशा के लिए धर्म को छिपा नहीं सकता धर्म का सच्चा स्वरूप प्रकट हुए बिना नहीं रह सकता।

लोकाशाहः—जिस प्रकार भाद्रपद की काली रात्रि में भी बिजली का प्रकाश होता है इसी तरह पंचम काल के अन्धकार में भी यदाकदा सत्य धर्म का प्रकाश चमक उठता है। जब किसी चीज की अति हो जाती है तो उसकी प्रतिक्रिया अवश्य होती है। जब धर्म के नाम पर चलने वाले आडम्बर की सीमा हो गई तो जनता के सौभाग्य से उसके विरुद्ध आवाज उठाने वाले एक समर्थ पुरुष का जन्म हुआ। विक्रमीय पन्दरवीं शताब्दी के अन्त में समर्थ क्रियोद्धारक सत्य-मार्ग प्रदर्शक लोकाशाह का जन्म हुआ।

लोकाशाह ने तात्कालिक धर्म के नाम पर चलने वाले ढोंग का पर्दा-फाश किया। उन्होंने क्रान्ति का सन्देश दिया। स्वार्थ लोलुपी लोगों के चक्कर में फंसी हुई जनता को सत्य-मार्ग का स्वरूप समझाया, वीतराग धर्म का मर्म समझाया। उन्होंने घोषित किया—वीतराग के धर्म की आराधना केवल बाह्य क्रियाकाण्डों और आडम्बरों से नहीं हो सकती। उसकी आराधना के लिए त्याग और तपश्चर्या की प्रधानता आवश्यक है। इस प्रकार लोकाशाह ने अपने आत्मबल द्वारा विरोधियों के प्रबल विरोध के बावजूद भी सत्य-मार्ग का प्ररूपण किया। धर्म का पुनः उद्धार किया।

कल्पसूत्र में भगवान महावीर के कल्याणकों का वर्णन करके दीवाली की उत्पत्ति और श्रमण संघ के भविष्य का कुछ उल्लेख किया है। उसमें बताया गया है कि जिस समय भगवान महावीर का निर्वाण हुआ, उस समय उनके जन्म नक्षत्र पर भस्मराशि नामक महाग्रह का संक्रमण हुआ। जबसे २००० वर्ष की स्थिति वाला भस्म ग्रह महावीर की जन्म राशि पर आया तब ही से श्रमण संघ की उत्तरोत्तर सेवा भक्ति घटने लगी। भस्मग्रह के हटने पर २००० वर्ष बाद श्रमणसंघ की उत्तरोत्तर उन्नति होगी—

जं रयणिं चणं समणे भगवं महावीरे काल गए जाव सव्व दुक्खप्पहीणे तं रयणिं चणं खुद्दाए भासरासीनाम महग्गहे दो वास सहस्सट्ठिई। समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्म नक्खत्तं संकंते तप्पभिइं चणं समणाणं निग्गंथाणय नो उदिए उदिए पूया सक्कारे पवत्तई ॥१३०॥

जयाणंसे खुद्दाए जावजम्मनक्खत्ताओ विइक्कंते भविस्सई तयाणं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीणय उदिए२ पूया सक्कारे भविस्सई।१३१।

उपरोक्त सूत्र में यह भविष्य कहा गया है कि २००० वर्ष के बाद श्रमणों की पुनः उन्नति होगी। इस बीच मे धर्म और शासन को संकट का मुकावला करना होगा। करीव करीव इसी वचनानुसार शुद्ध निग्रन्थ धर्म और उसके पालकों का शनैः २ अभाव सा होता गया। विक्रम संवत् १५३० को जब २००० वर्ष पूरे हुए, तब लोकाशाह ने वि. संवत १५३१ में आगमानुसार साधुमार्ग का पुनरुद्योत किया। उनके उपदेश से लखमसी, जगमालजी आदि ४५ पुरुषों ने एक साथ भागवती दीक्षा स्वीकार की, जिनमें कई अच्छे २ संघपति और श्रीपति भी थे। लोकाशाह की वाणी मे हृदय की सच्चाई और चरित्र की शक्ति थी, अतएव बहुसंख्यक जनता को वे अपनी ओर आकर्षित कर सके। आगमों की युक्ति, संयम की शक्ति और वीतराग प्ररूपित शुद्ध धर्म के प्रति भक्ति होने के कारण लोकाशाह क्रान्ति करने में सफल हो सके।

धन्य है लोकाशाह! जिन्होंने परम्परानुगत रूढिवादियों के फौलादी पंजों से भोली जनता को मुक्त किया॥ धन्य हैं लोकाशाह! जिन्होंने क्रान्ति का बिगुल बजाकर शुद्ध धर्म का प्रद्योत किया! धन्य है सफल क्रान्तिकार लोकाशाह! तुम्हें शतशः धन्य है!!

लोकाशाह ने जैन धर्म मे सदियों से घुसी हुई विकृतिओं को दूर कर उसका उद्धार तो किया, किन्तु उन्होंने अपनी कोई दृढ संघ व्यवस्था नहीं बनाई। यही सबब है कि लोकागच्छ के साधुओं पर भी यतिवर्ग का असर बना ही रहा। सात आठ पाट के बाद ही लोकागच्छ भी शिथिलता का शिकार होने लगा और देखते ही देखते गच्छवासियों की तरह सर्वसुलभ वैभव विलास का लोकागच्छ में भी विकाश हो गया। आत्मार्थी पुरुषों को यह स्थिति देखकर दुःख हुआ, उन्होंने गच्छवास में संयम साधन की अनुकूलता न देख कर यह निश्चय किया कि हमे गच्छ का मोह त्याग कर बडे से बडा आत्म भोग करके भी धर्म का सत्यरूप प्रकट करना चाहिए। अन्यथा आत्मवंचना के साथ जगवंचना भी होगी। ऐसा सोच कर श्री जीवाजी, लवजीऋषि, हरजी, धर्मसिहजी, धर्मदासजी आदि संतों ने गच्छ त्यागकर जैन शासन का उद्धार किया। उनमें से यहां धर्मदासजी महाराज की परम्परा के कुछ आचार्यो का परिचय दिया जाता है।

त्याग और तपश्चर्या की कठोर साधना के लिए साधु-मार्गी सम्प्रदाय सर्वत्र विख्यात है। इस सम्प्रदाय के लिये यह गौरव की बात है कि इसमें ऐसी २

विभूतियां हुई हैं जिन्होंने धर्म के लिए अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर दिया। धर्म धुरन्धर पूज्य धर्मदासजी महाराज इसके मूर्तिमन्त उदाहरण हैं।

१——सुधारक श्री धर्मदास जी महाराज

यस्याऽमोघ-तमोघ-चर्णि-निवहैः कीर्तिः प्रविस्तारिता,
श्राद्धाः श्रद्धतोऽनघीकृतधियो येनात्र निस्तारिताः।
धर्मच्छद्मविलासलीनमनसां यस्मात्स्मयोऽस्तं गतो,
निस्तारस्तम एनसां विजयते श्रीधर्मचन्द्रो मुनिः ॥१॥

अर्थः——अज्ञानान्धकार को अचूक उपाय से नष्ट करनेवाले मुनियोंने जिनकी कीर्ति फैलाई और जिन्होंने श्रद्धा शील एवं शुभ मति वाले श्रावकों को संसार से पार उतारा। तथा जिनके प्रभाव ने धर्म के छल से विलास करने वाले (पाखण्ड करने वाले) वृथाऽभिमानियों के अभिमान को दूर भगाया। ऐसे पाप रूपी अन्धकार का-अन्त करने वाले श्री 'धर्मचन्द्र' मुनिराज सर्वोपरि विराजमान हैं ॥१॥

पूज्य धर्मदासजी महाराज एक अलौकिक महा पुरुष थे जिनके त्याग और बलिदान से जैन समाज गौरवान्वित है। वे अपने नामानुसार गुण के धारक थे धर्म ही उनका प्राण था अतएव वे धर्म प्राण कहलाये। धर्म के लिए प्राणों की परवाह न करने वाले व्यक्ति अत्यन्त विरले होते हैं।

आपका जन्म स्थान अहमदाबाद के पास सरखेज गांव है। वहां पर उस समय भावसार के ७०० घर थे जो लोकागच्छ को मानने वाले थे। उन सबमें जीवन लाल कालीदास प्रमुख थे। उनकी डाहीबाई नामक सुशीला पत्नी से सम्वत १७०१ में आपका जन्म हुआथा। * बालकपन से ही आपका हृदय धर्म में रंगा हुआ था, इसलिए मातापिता ने आपका नाम धर्मदास रखा। आठ वर्ष के होने पर जब आप पोशाल में जाने लगे, तब केशव जी पक्ष के लोकागच्छी यति श्री ५ तेजसिंहजी का एक दिन सरखेज में पधारना हुआ। धर्मदासजी भी उनकी सेवा में जाने लगे। * कुछ समय बाद वहां कल्याणजी नामक पोतियाबन्ध श्रावक (एक-

* मुनि श्री धनचन्दजी लिखित श्री धर्मदासजी महाराज के जीवन चरित्र में सं १७०३ के आश्विन शु. ११ का जन्म लिखा है। और आपके पिता का नाम कान्हजी जीवन पटेल तथा माता का नाम जीवाबाई बताया गया है।

* सत्संगजादोष गुणा भवन्ति "इस कहावत के अनुसार आपके धार्मिक संस्कार सत्संगति से जग उठे। आपको संसार से विरक्ति होने लगी।

रुपासरी का) आये। उनके नवीन उपदेश को सुनने के लिए लोगों के साथ धर्मदासजी भी गये और उपदेश सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। कल्याणजी श्रावक के आचार विचार से आपका मन बडा प्रभावित हुआ। कहीं २ यह भी उल्लेख मिलता है कि आप २ वर्ष तक पोतियाबन्द श्रावकपन से रहे। एक बार भगवती सूत्रका वाचन करते समय ऐसा पाठ मिला कि 'भगवान महावीर का शासन २१ हजार वर्ष तक चलेगा। जब धर्मदासजी को यह प्रतीत हो गया कि इस समय भी शुद्ध संयम मुनिधर्म का आराधन किया जा सकता है, तब आप सच्चे संयमी की खोज में निकले और सर्व प्रथम श्री लवजी ऋषि से मिले फिर अहमदाबाद में श्री धर्मसिंहजी महाराज का भी आगमन हुआ। श्री धर्मसिंहजी महाराज के साथ आपको धर्म चर्चा भी हुई। (मालवे की कुछ पट्टावलियों में लिखा है आपने श्री कानजी महाराज के पास सूत्राभ्यास किया लेकिन अपनी १७ बातें मान्य नहीं होने से उनके पास दीक्षा नहीं ली कानजी महाराज श्री सोमजी महाराज के शिष्य हैं। और प्रभुवीर पट्टावली के लेखानुसार इनकी दीक्षा श्री लवजी ऋषि के स्वर्गारोहण बाद मानी गई है। ऐसी दशा में श्री कानजी महाराज के पास धर्मदासजी का ज्ञानाभ्यास विचारणीय है) परन्तु कुछ मतभेद के कारण आपने श्री धर्मसिंहजी के पास दीक्षा ग्रहण नहीं की और अपने उपकारी श्री पूज्य तेजसिंहजी के आशीर्वाद तथा माता-पिता की आज्ञा को ग्रहणकर सं १७१६ के आश्विन शुक्ला ११ को अहमदाबाद की बादशाह बाडी में ७ (१७) जनों के साथ स्वयं मुनि दीक्षा धारण की। दीक्षा के समय उन्होंने अष्टम तप किया और चौथे दिन पारणा के लिए फिरते हुए एक कुम्हार के यहां जा पहुँचे। कुम्हार के घर में लडाई हुई थी, इसलिए कुम्हारिन ने आए हुए मुनिजी को क्रोध में राख व्हेरादी। मुनि ने उसी को तेले की पारणा में सर्व प्रथम छाछ में मिला कर पीली। दूसरे दिन जब आप धर्मसिंहजी म० को वन्दन करने के लिए गये और पारणा में मिली हुई भिक्षा की बात कहीं, तब धर्मसिंहजी म० ने कहा कि महात्मन् ! राख की तरह तुम्हारा शिष्य समुदाय भी चारों दिशा में फैलेगा, और चारों ओर तुम्हारे उपदेश का प्रचार होगा। उक्त भविष्य के अनुसार आपके शिष्यों की खूब वृद्धि हुई। जिनमें २२ बडे पण्डित और प्रभावशाली शिष्य हुए।

आचार्य्य पद—

सं० १७२१ माघ शुक्ला ५ के दिन उज्जैन में आपको आचार्य पद प्रदान किया गया, उसके बाद ३८ वर्षों तक आपने सद्धर्म का प्रचार किया और उस अरसे में आपने कुल ९९ भाइयों को अपने हाथ से जैन मुनि दीक्षा प्रदान की।

उन ९९ न २२ शिष्य तो अच्छे पण्डित और उत्तम वक्ता थे उन सबों को आपने सर्वत्र सद्धर्म प्रचार करने की आज्ञा दी। उन्हीं २२ की संख्या से आज भी २२ सम्प्रदायें कही जाती हैं।

शाशन लघुता का भय और बलिदान

आपकी महत्ता को प्रकट करने वाली एक घटना इस प्रकार है:—

इतिहास प्रसिद्ध राजा भोज की धारा नगरी में आपके एक शिष्य ने अत्यन्त नाजुक शारीरिक परिस्थिति को देख कर संथारा कर लिया था। भवितव्यता के कारण ऐसा करने से उसकी व्याधि कम हो गई और अब उसके विचार विचलित होने लगे। उसे आहार की इच्छा हुई और वह कायर व्यक्ति ली हुई प्रतिज्ञा से विचलित होने लगा। उसे प्राणों का मोह हो आया। पू० धर्मदासजी म० मालवा प्रान्त में ही विचर रहे थे। उन्हें अपने शिष्य के चंचल परिणामों का हाल मालुम हुआ। वे शीघ्र ही विहार करते हुए धारा नगरी के समीप आये वहां उन्हें रूखी बाटियों का आहार मिला। यह आहार प्यास बढाने वाला होता है। पानी वहां पर्याप्त न मिल सका। वहीं आहार करके आप शिष्य को दर्शन देने के लिए धारा नगरी में पधारे। शिष्य ने दर्शन करके संथारा निभाने में अपनी असमर्थता प्रकट की। आप श्री ने उसे बहुत समझाया कि—"शरीर का ममत्व न करो, क्योंकि वीर पुरुष ली हुई प्रतिज्ञा को निभाने में प्राणों की परवाह नहीं करते। धर्म प्राणों से भी अधिक मूल्यवान है। संयमी पुरुष के लिये धर्म ही धन है। वह चला गया तो धर्महीन प्राणों से क्या लाभ ? अतएव शिष्य ! तुम आत्मा की नित्यता और शरीर की नश्वरता का विचार कर अपनी प्रतिज्ञा में दृढ रहो। जिन शासन को कलंकित न करो इत्यादि।"

जब बहुत कुछ समझाने पर भी शिष्य के परिणाम स्थिर नहीं हुए तो उसी समय शिष्य को पाट पर से उतार कर स्वयं संथारा अंगीकार कर लिया। प्रबल प्यास की परवाह न करके शासन की महिमा के लिए अपने नीरोग शरीर का बलिदान कर दिया। उन्होंने यह दिखा दिया कि संत का जीवन शासन की महिमा के लिए है। अपने पवित्र शासन को लघुता से बचाने के लिये इस प्रकार प्राणों का उत्सर्ग कर देना बालकों का खेल नहीं है। जिनकी रग रग में धर्म के प्रति अनुराग भरा होता है ऐसे बिरले वीर ही ऐसी वीरता बता सकते हैं। धर्म श्रद्धा और धर्म प्रभावना के लिए इससे बढकर और क्या उदाहरण हो सकता है ?

पूज्य श्री समभावपूर्वक क्षुधा और प्यास की वेदना सहन करते रहे। उन्हें इस बात की प्रसन्नता थी कि वे अपना कर्तव्य निभा रहे हैं। शासन और धर्म के लिये मेरे प्राण काम आवें इससे बढकर इनका और क्या अच्छा उपयोग हो सकता है। यह विचार करके वे शान्ति के साथ वेदना सहन करते रहे। इस प्रकार ८-९ दिन तक संथारा पाल कर सं० १७५९ के अषाढ शु० ५ की सन्ध्या को ५९ वर्ष की आयु में आप स्वर्गवासी हो गए। आपके स्वर्गवास के बाद मूलचन्द्र जी आदि २२ मुनि धर्म प्रचार के लिये विभिन्न प्रान्तों में विचरण करने लगे। तब इन २२ मुनियों के आश्रय में रहने वाला साधु समूह भी २२ समुदाय के नाम से लोक में प्रसिद्ध हो गया।

धर्म के लिए बलिदान देने वाले ऐसे महापुरुष को जन्म देकर यह वसुन्धरा कृतकार्य होती है। धन्य है! यह विरल विभूति! और धन्य है! इनका अमर बलिदान!!

२—आचार्य श्री धन्ना जी महाराज

आप धर्मप्राण धर्मदासजी महाराज के प्रमुख शिष्य थे। आप साचोर के कामदार बाघजी महता के सुपुत्र थे। आप सम्पन्न कुटुम्ब में पैदा हुए थे इसलिए आपका लालन पालन बडे आराम से हुआ था। आपकी सगाई हो चुकी थी। उसे छोड़कर संगति के कारण आप पोतियाबन्ध हुए। बाद में धर्मप्राण धर्मदासजी महाराज की संगति का अवसर प्राप्त होने पर सुयोग से पोतियाबन्ध परम्परा को छोडकर सम्वत १७२७ में आप उनके पास दीक्षित हो गए।

पू० धर्मदासजी म० सरीखे गुरु को पाकर धन्नाजी म० कृतार्थ हो गए। आप पर अपने गुरुदेव का बहुत प्रभाव पडा। संयम के प्रति आपकी अत्यन्त अभिरुचि थी। आपको सदा अपनी आत्मा के अभ्युत्थान का विचार रहता था। आपने रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त की थी। घृत की पूडी के सिवाय सभी विगई (दूध दही आदि) का त्याग कर दिया था।

संयम की साधना में स्वाद पर विजय प्राप्त करने का बडा भारी महत्व है। जो व्यक्ति स्वाद का निग्रह नहीं कर सकता वो संयम का पालन भलीभांति नहीं कर सकता। जिव्हालोलुप व्यक्ति संयम की उतनी परवाह नहीं करता जितनी स्वाद की। ऐसा व्यक्ति संयम में बेदरकार बन जाता है। अतएव संयम की साधना करने वाले साधक का कर्तव्य है कि वह स्वाद पर विजय प्राप्त करने की भरसक कोशीश करे।

पू० धन्नाजी महाराज ने बहुत समय तक एकान्तर तपश्चर्या की । तप साधुओं का धन है । तप की जितनी उत्कृष्टता होती है उतनी ही प्रायःआत्म-विशुद्धि होती है । इन्द्रियों का निग्रह किये विना आत्मशुद्धि दुःशक्य है और इन्द्रियों का निग्रह तपश्चर्या के विना कठिन ह । इसलिए इन्द्रियों के विषयों से वचने के लिए साधकों को अवश्य ही तपश्चर्या करनी चाहिए । इसीलिए शास्त्र-कारों ने तप पर वहुत भार दिया ह ।

आप रात्रि के समय वहुत कम निद्रा लेते थ । प्रायः वठे २ ही रात्रि बिता देते थे । रात के समय वे चिन्तन किया करते और अपने मन को एकाग्र बनाने की साधना करते । आपका आदर्श शिक्षा देता है कि रात्रि के समय धर्म जागरण करना संयमियों का विशेष कर्तव्य है । जिस समय संसार के अन्य प्राणी निद्रा की गोद में सोये रहते हैं उस समय साधक अपने आत्मचिन्तन में तल्लीन रहता है । आत्म चिन्तन और प्रमाद पर विजय यही साधुओं के सच्चे श्रृंगार हैं ।

संम्वत १७८४ में मेडता नगर में आपका स्वर्गवास हो गया ।

३—मरुभूमि के दीपक पूज्य भूधर जी

पू० धन्नाजी महाराज के शिष्य भूधरजी हुए । भूधरजी मारवाड के सोजत ग्राम के निवासी थे । आप ओस वंश के मुणोत खानदान में पैदा हुए थे । आपकी वैराग्य भावना वडी तीव्र थी । स्त्री-पुत्र आदि का पारिवारिक-वन्धन होते हुए भी आपने सबको छोडकर सं० १७७३ में आत्मकल्याण के लिये संयम-मार्ग ग्रहण किया । संयम लेने के पश्चात आपने ग्रीष्म काल के सूर्य की प्रचण्ड किरणों से तपी हुई रेत पर प्रतिदिन आतापना लेना शुरू किया ।

शास्त्रकार फर्माते हैः—

आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाही, कमियं खु दुक्खं ।
छिन्दाहि दोसं विणएज्जरागं, एवं सुही होहिस संपराए ॥

अर्थात आतापना लो, सुकुमारता का त्याग करो, इच्छाओं का दमन करो, दुखः का दमन स्वतः हो जायगा । द्वेष का छेदन करो, राग को दूर करो । इस तरह संसार में भी तुमको आत्म शान्ति मिल सकेगी ।

शास्त्रकार के कथनानुसार आत्मशान्ति का मार्ग भूधरजी महाराज को हृदयंगम हो गया था। शरीर की ममता वे दूर कर चुके थे। शरीर में हुई छोटी सी फुंसी भी चित्त को विकल कर देती है तो गर्मी के दिनों में प्रचण्ड सूर्य की किरणों से तपी हुई बालू रेत पर अपने शरीर को सेंकना साधारण काम नहीं है। परन्तु जो महात्मा शरीर से आसक्ति मिटा चुके हों, जिन्हें शरीर से अधिक मूल्यवान् आत्मतत्त्व के दर्शन हो चुके हों, वे हंसते २ सब कष्ट सहन कर लेते हैं। कष्ट सहन करके कर्म का क्षय करने में ही वे शरीर की सार्थकता समझते हैं।

आतापना की कठिन साधना करने के कारण भूधरजी म० की ख्याति खूब फैल गई थी। पुष्प की सुगन्ध तो उसी ओर फैलती है जिस ओर हवा के झोंके का प्रसार होता है लेकिन उनकी कान्ति तो सर्वत्र फैले बिना न रही।

प्रायः यह देखा जाता है कि जो व्यक्ति तपस्वी होता है अथवा आतापना लेता है, उसकी प्रकृति में कुछ तेजी अवश्य आ जाती है। परन्तु भूधर महाराज में यह बात लेशमात्र भी नहीं थी। उनकी शान्त प्रकृति और क्षमाशीलता का परिचय निम्न घटना से भली प्रकार मिलता है:—

किसी समय भूधरजी महाराज ग्रामानुग्राम विचरते हुए कालू * नाम के गांव में पधारे। मध्याह्न के समय आतापना लेने के लिये आप ग्राम के समीप नदी पर गये। वहां आप नदी की तपी हुई बालू में आतापना ले रहे थे। इतने में एक बाबा उधर से निकला। उसने आतापना लेने वाले मुनि को देखा और देखते ही उसके हृदय में द्वेष जागृत हो गया। वह विचारने लगा ये बनियों के गुरु हैं अतएव बनियों का ही भला चाहते हैं। आतापना के द्वारा ये वर्षा को रोकना चाहते हैं, जिससे नदी में पानी न आवे और बनियों को खूब लाभ हो। ऐसे दुष्ट को मजा चखाना ही चाहिए। अपनी मनमानी कल्पना के आधार पर वह अकारण ही मुनि से द्वेष करने लगा और उसने डण्डा उठाकर मुनि श्री के सर पर प्रहार कर दिया। मुनि तो प्रहार की वेदना से बेभान हो गये और वह दुष्ट अपना पाप छिपाने के लिए वहां से चल दिया।

---

* आज भी कालू गांव चारों ओर नदी से घिरा है। इसको आनन्दपुर कहते हैं। मेंडते से जेतारण जाने वाली सड़क से यह रास्ते में आता है। यहां जैनों की संख्या अच्छी है अधिकतर से लेन देन का धन्धा या देशांतर में दुकान करते हैं। किसी समय श्रावगी और ओसवाल सम्मिलित रूप से धर्माराधन करते थे। जिसके प्रमाण में समस्त संघ का आज भी स्थानक मौजूद है। विदेश के संसर्ग से अब श्रावगी भाई अपना पृथक् रूप अनुभव करते हैं और स्थानक में धर्म ध्यान करने वालों को बाधा भी देते हैं।

मनुष्य पाप करके उसे छिपाने का प्रयत्न करता है, परन्तु पाप उसी तरह नहीं छिप सकता जैसे रूई लपेटी हुई आग। पाप को छिपाने की कितनी ही चेष्टा क्यों न की जाय, उसमें ऐसी शक्ति होती है कि वह अपराधी का नाम पुकार पुकार कर कह देता है।

आखिर वह बाबा भी पकड लिया गया। राजपुरुषों ने उसे पकड कर कैद कर लिया। उधर भूधरजी म० को दूसरे साधु उपाश्रय में लाये और उनका उपचार करने लगे। होश में आते ही क्षमाशील भूधरजी म० ने कहा कि उस को पहले बन्धन मुक्त कराओ। मेरी आत्मा को शान्ति तब ही मिलेगी जब वो प्राणी बन्धन मुक्त हो जायगा। मेरी सेवा होने से पहले उसका छुटकारा होना जरूरी है। मेरे आराम का इससे दूसरा जरिया इस समय कोई नहीं है। मुनि श्री के आदेशानुसार ऐसा ही किया गया।

क्षमाशीलता और उदारता का कैसा अनुपम उदाहरण है। अपना अहित करने वाले के प्रति इतने समभाव रखना लोकोत्तर दिव्य प्रकृति का परिचय है। क्षमाशीलता का यह कैसा अनूठा आदर्श है हृदय की उदारता का कितना अच्छा दृष्टांत है।

पूज्य भूधरजी महाराज के अनेक शिष्य हुए। उनमें मुनि श्री नारायणजी, मुनि श्री रघुनाथजी, मुनि श्री जयमलजी और मुनि श्री कुशलदासजी आदि ४ शिष्य मुख्य थे।

मुनि नारायण जी:—

सम्वत १८०४ का चातुर्मास करने के लिए पूज्य श्री भूधरजी मेडता पधार रहे थे। उनकी शिष्य मण्डली भी साथ में थी। गर्मी का समय था। मरुभूमि की बालुका सूर्य की प्रचण्ड किरणों से आग की भांति तप रही थी। ऐसे समय में भी मुनि विहार कर रहे थे। आभ्यन्तर जगत में विचरने वाले निस्पृह अवधूत मुनियों को धूप की क्या चिन्ता ?

सूर्य अपने प्रचण्ड ताप से तप रहा था। मुनियों के पास जल का अभाव था। निरवद्य कल्पनीय जल का मिलना कठिन था। मुनि श्री नारायणजी को तृषा का तीव्र परिषह उपस्थित हुआ। मध्यान्ह का समय, ग्रीष्म की धूप और मार्ग का परिश्रम इन सब संयोगों से मुनि श्री को असह्य तृषा सताने लगी। उनका कण्ठ सूखने लगा। पास में जल का सर्वथा अभाव था। पास ही गांव में कल्पनीय जल मिलने की सम्भावना से कुछ मुनि आगे जल लेने के लिये

गये । मुनि श्री धीरे २ विहार करते आगे चले । तृषा उत्तरोत्तर बढ़ती गई । जल के अभाव में प्राण कण्ठ तक आ गये । कल्पवाह्य जल आसानी से मिल सकता था, परन्तु दृढ संयमी मुनि जी ने उसकी वाञ्छा तक न की । स्थिति और भी विकट हो गई । प्राण जाने की नौबत आई । ऐसे ही समय पर साधुता की खरी कसौटी होती है । वीतराग के मार्ग पर चलने वाला साधु परिषहों और उपसर्गों से खेल करता है । परिषह और उपसर्ग को शान्ति पूर्वक सहन करने वाला साधु ही कम विदारण करने वाला सच्चा वीर है । मुनि जी ने देखा कि अब अन्तिम समय आ गया ह । तब उन्होंने यावज्जीवन चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया और एक सच्चे वीर की तरह मृत्यु का हसते हुए स्वागत किया ।

मुनि जी ने अपने चरित्र द्वारा यह बता दिया कि नियम और संयम का पालन प्राणों से भी अधिक मूल्यवान है । सच्चा संयमी वही ह जो अपने प्राणों का उत्सर्ग भले ही करदे लेकिन अपने नियम को कदापि भंग न करे ! अहा ! इन विभूतियों के जीवन मानव समाज को कितना अनमोल बोध पाठ दे रहे हैं ।

पानी लेने के लिए जाने वाले मुनि जब तक पानी लेकर लौटे तब तक मुनि जी इस नश्वर शरीर को छोड चुके थे । उनकी अमर आत्मा नये लोक के लिए प्रस्थान कर चुकी थी । मुनियों ने जान लिया कि मुनिजी ने संलेखना संथारा पूर्वक अपना जीवन पूरा किया । हर्ष और विषाद के सामंजस्य का अनुभव करते हुए वे मनि गुरुदेव के पास आये और उन्हें घटित घटना का हाल सुनाया ।

इसी १८०४ के चातुर्मास में पूज्य भूधरजी म० भी पांच उपवास के पारणे के दिन पारणा करने के पहले ही आश्विन शुक्ला दशमी को इस नश्वर देह का त्याग कर परलोक गामी हुए । अखण्ड तपोनिधि लेकर पूज्य भूधरजी महाराज सद्गति को सिधार गये ।

पूज्य भूधरजी महाराज के अनेक शिष्यों में से ये तीन शिष्य रत्न आगम के बडे मर्मज्ञ और प्रतिभा सम्पन्न थे:—१ पू० रघुनाथ जी महाराज २ पूज्य जयमल्लजी म० ३ पू० कुशलसिहजी म० । कुशलसिहजी महाराज को लोग कुशलसी, कुशलदास जी तथा कुशलाजी म० भी कहा करते थे ।

कहावत है कि:—

भूधर के सिख दीपता, चारों चातुरवेश
धन रघुपत, धन जेतसी, जयमल्ल ने कुशलेश ।

ये कुशलजी महाराज ही वर्तमान में पूज्य रत्नचन्द्रजी महाराज की कही जाने वाली सम्प्रदाय के नींव डालने वाले महापुरुष हैं। आप ही इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक हैं। इसलिए आपका जीवन वृत्तान्त यहां सर्व प्रथम देना उचित्त ही है।

४—पूज्य कुशलजी महाराज

बाल्यकाल और विरक्ति

मारवाड में रींयां ग्राम (सेठकी) अपनी समृद्धि के लिए किसी समय खब प्रसिद्ध था। इस ग्राम के सेठ साहूकार देश-देशान्तरों में बडे पैमाने पर व्यापार करते और अपार सम्पत्ति कमा कर इस ग्राम में लाते थे। प्रचुर धन वैभव के कारण ही इस ग्राम का विशेष परिचय देने के लिए इसे सेठों की रियां कह कर पुकारते हैं। यहां सेठ-साहूकारों का राजा और प्रजा पर बडा भारी प्रभाव था। यहां के सेठ-साहुकारों की जैन धर्म पर अटूट श्रद्धा थी। ये लोग दया और परोपकार में अपने द्रव्य का उपयोग करते थे। इन्हीं कारणों से यह ग्राम आबादी की दृष्टि से अधिक बडा न होने पर भी अधिक विख्यात था।

इसी सुविख्यात ग्राम में लाधूरामजी चंगेरिया नाम के एक प्रतिष्ठित श्रावक थे। इनकी धर्मपत्नी का नाम "कानूबाई" था। इन कानूबाई की कूंख से विक्रम संम्वत १७६७ में कुशलदास जी का जन्म हुआ। माता पिता के परम वात्सल्य में आपका लालन-पालन हुआ। अधिक समय तक यह वात्सल्य न रह सका। प्रकृति को कुछ और ही इष्ट था। आपकी लघु अवस्था में ही आपके पिता का स्वर्गवास हो गया। पिता के स्नेह से वञ्चित होने के साथ ही साथ आप पर कुटुम्ब और व्यवसाय को चलाने की भी जिम्मेदारी आ पडी।

पितृ वियोग के कारण आपके हृदय पर बडा आघात लगा। संसार के प्रति उदासीनता के भाव अंकुरित होने लगे। सिर पर आ पडने वाली कौटुम्बिक जवाबदारी का आपने अलिप्त रूप से पालन किया। योग्य अवस्था में माता के आग्रह से कुलीन कन्या का पाणिग्रहण भी किया। आपके एक पुत्र हुआ जिसका नाम हेमचन्द्र था। इसके बाद आपकी धर्मपत्नी का आकस्मिक देहावसान हो गया। दुधमुंहे शिशु को छोडकर माता परलोक की ओर प्रयाण कर गई।

पहले पितृ-वियोग के कारण संसार से उदासीनता के भाव विद्यमान थे ही, उस पर इस असह्य आघात के लगने से आप एक दम विरक्त हो गये।

संसार के प्रति एक दम घृणा हो गई और त्याग-मार्ग अंगीकार करने की दृढ भावना पैदा हो गई ।

जब मानव पर दुःख आता है तब उसकी सोई हुई शक्ति जागृत होजाती है। सुख में मनुष्य की आत्मा की सहज शक्ति कुण्ठित रहती है और दुख के आने पर वह शक्ति तीव्र और प्रकट हो जाती है । अनुभवियों का कहना है कि:-

दुख है ज्ञान की खान, बन्दे, दुख है ज्ञान की खान

दुख का एक आघात मनुष्य में अनेक प्रबल शक्तियों का संचार कर देता है। दुख के एक आघात से मोह में भूला हुआ प्राणी होश में आ जाता है। दुख का एक आघात मानव के अज्ञान को दूर करने में समर्थ होता है । संसार के अधिकांश महापुरुष दुख के आघातों को सह-सह कर महापुरुष कहलाने योग्य बने हैं। दुख का आघात मानव को शक्ति सम्पन्न, दृढ-परिश्रमी और कर्तव्य परायण बनाता है । महापुरुष बनाने की कुन्जी है दृढता पूर्वक संकट और मुसीबतों से खेलना।

दीक्षा और भ्रमण

पत्नी वियोग का आघात कुशलदासजी के लिए संयम का कारण बना । आपकी विराग भावना शनैः २ बढने लगी अब जो भी समय जाता आपको खटका करता, किन्तु कार्यसिद्धि में एक बाधा थी उसके लिए माता की अनुमति आवश्यक थी। जब सहज में अनुमति मिलना सम्भव नहीं दिखा तब एक दिन आप घर के सामने वेरी की चबूतरी पर प्रतिज्ञा करके धूप में सो गए। आपने प्रतिज्ञा की कि बिना अनुमति मिलाये यहां से नहीं उठना, जब आपकी इस प्रतिज्ञा का हाल माता ने सुना तब उन्होंने सहसा अनुमति प्रदान करदी । दीक्षा के समय केवल १७ मास के दुधमुंहे बच्चे को अपनी माता के पास छोड कर तथा प्रचुर सम्पत्ति को ठुकरा कर आपने सं० १७९४ के फाल्गुन शुक्ला ७ को दीक्षा का प्रशस्त मार्ग अपनाया।

और पूज्य श्री भूधरजी म० के पास आपने स्व पर कल्याण के लिए वीतराग भगवान के द्वारा प्ररूपित मंगलमय चारित्र स्वीकार किया ।

चारित्र अंगीकार करने के पश्चात आपने प्रथम चातुर्मास मेड़ता नगर में किया । आपका तपस्तेज और संयम की निर्मलता अनुपम थी ।

आपने मारवाड मेवाड और मालवा के क्षेत्रों में विचर कर अनेक भव्यात्माओं को प्रति-बोध दिया । आपके संयम की निर्मलता और तपश्चर्या के तेज से

आकर्षित होकर अनेक व्यक्तियों ने आपके पास दीक्षा धारण की। आपके अनेक शिष्य हुए।

सम्वत १८१८ के मेड़ता चातुर्मास में अखेराजजी तथा गुमानचन्द्र जी ने आपके पास दीक्षा धारण की। आपने ४५ वर्ष तक निर्मल संयम का पालन करते हुए धर्मोद्योत किया। आपके चातुर्मासों की सूची इस प्रकार है:—

सम्वत १७९५ मेड़ता
" १७९६ सोजत
" १७९७ अजमेर
" १७९८ किशनगढ़
" १७९९ सोजत
" १८०० जैतारण
" १८०१ ......
" १८०२ नागौर
" १८०३ जैतारण
" १८०४ जोधपुर
" १८०५ नागौर
" १८०६ नीवाज (१ दीक्षा हुई)
" १८०७ जोधपुर
" १८०८ जालोर (१ दीक्षा हुई)
" १८०९ नीवाज (१ दीक्षा हुई)
" १८१० जैतारण
" १८११ सिरियारी
" १८१२ उदयपुर
" १८१३ लांवा (१ दीक्षा हुई)
" १८१४ राजनगर
" १८१५ सादड़ी
" १८१६ किशनगढ़
" १८१७ खेजरले
" १८१८ मेड़ता (२ दीक्षा हुई)
" १८१९ सिरियारी
" १८२० भीलाड़ा
" १८२१ ऊँटाला (१ दीक्षा हुई)

संम्वत १८२२ मेड़ता
" १८२३ तिंवरी
" १८२४ जालोर
" १८२५ नीवाज (१ दीक्षा हुई)
" १८२६ बगड़ी
" १८२७ रियां (१ दीक्षा)
" १८२८ जालोर
" १८२९ नागौर
" १८३० पीपाड़
" १८३१ जोधपुर
" १८३२ पाली
" १८३३ रियां
" १८३४ नागोर

संम्वत १८३४ से १८४० तक नागौर में स्थिर वास रहे।

इस प्रकार विभिन्न स्थानों में भ्रमण कर आपने शासन की प्रभावना की। आपकी अप्रमत्तता विशेष रूप से वर्णनीय है। जब से आपके गुरुदेव श्री भूधरजी म० का स्वर्गवास हुआ तब से बड़े गुरुभाई श्री जयमल्लजी म० के साथ आपने भी यह प्रतिज्ञा ले ली कि पृथ्वी पर लेट कर निद्रा न लूंगा। आपने यावज्जीवन इस प्रतिज्ञा का पालन किया। कितनी कठोर प्रतिज्ञा है। देह-दमन की कैसी कठोर तपस्या है।

श्री जयमलजी और श्री कुशलदासजी दोनों गुरुभाइयों का परस्पर इतना घनिष्ठ प्रेम था कि शिष्य परिवार हो जाने पर भी दोनों ने प्रायः साथ नहीं छोड़ा। आपके शिष्य समुदाय में से मुनि श्री गुमानचन्दजी म० तथा मुनि श्री दुर्गादासजी म० प्रभावशाली वक्ता और परम तपस्वी थे। मुनि श्री दुर्गादासजी की दीक्षा १८२१ में ऊँटाला में हुई थी।

इस प्रकार पूज्य श्री कुशलदासजी म० ने रत्न-वंश का प्रथम बीजारोपण किया और उसे अपनी तपश्चर्या के तेज की उष्णता तथा शान्ति सलिल की शीतलता से अंकुरित भी कर दिया। सं० १८४० ज्येष्ठ कृष्णा ६ को दिन ३ का संथारा पालकर पूज्य श्री स्वर्ग सिधार गये। पूज्य श्री ने जिस बीज को अंकुरित किया था उसके संवर्धन का भार उनके सुयोग्य शिष्य-रत्न श्री गुमानचन्द्र जी म० पर आया।

५—पूज्य श्री गुमानचन्द्र जी महाराज

मारवाड़ की राजधानी जोधपुर नगर है। इसके शासक रणबंका राठौड़ जगतप्रसिद्ध हैं। इस ऐतिहासिक नगर में वैश्यकुल की माहेश्वरी जाति के अखेराजजी लोहिया नाम के एक सेठ थे। वे धन-वैभव से सम्पन्न थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम चेनाबाई था। उन्हीं सुशीला चेनाबाई की पवित्र कुक्षि से गुमानचन्द्र जी का जन्म हुआ।

श्री गुमानचन्द्रजी ने अपनी बाल्यावस्था पूर्णकर यौवन में पदार्पण किया ही था कि दैवयोग से उनकी माता जी का देहान्त हो गया। इससे पिता और पुत्र को बहुत आघात लगा। कुल परम्परागत रीति के अनुसार अपनी माताजी के फूल (अस्थियां) किसी पवित्र-तीर्थ-स्थान में प्रवाहित करने के लिए वे अपने पिताश्री के साथ गये।

यथाविधि अस्थियां प्रवाहित करके तथा अपनी शक्ति के अनुसार दान देकर वे वापिस लौटे। मार्ग में वे मेडता नगर में रुके। वहां पूज्य श्री कुशलदास-जी म० विराजमान थे। पूज्य श्री के उत्कट चारित्र की ख्याति से आकर्षित होकर पिता-पुत्र उनके दर्शनार्थ गये। शान्त दान्त और परमकान्त मुद्रा को देखते ही मन में भक्ति की लहर दौड गई। मुनियों की शान्त मुद्रा और तप का तेज भव्य आत्माओं को आकर्षित कर ही लेते हैं।

पन्द्रह दिन तक दोनों पिता-पुत्र पूज्य श्री के उपदेश श्रवण करते रहे, और उनके चरणारविन्दों में अपनी भक्ति के पुष्प चढाते रहे। पूज्य श्री के मुखारविन्द से वीरस्तुति का मधुर स्वरमय पाठ प्रतिदिन सुनकर तो वे बहुत ही प्रभावित होते। स्तुति की आकर्षकता से प्रेरित होकर उन्होंने वह स्तुति कंठस्थकर ली। बुद्धि की तीव्रता के कारण वह स्तुति उन्हें बहुत जल्दी कण्ठस्थ हो गई। जब पूज्य श्री ने सुना तब उनको आपकी तीव्र बुद्धि देखकर बहुत हर्ष हुआ।

पूज्य श्री के इतने दिन के सान्निध्य से दोनों पिता-पुत्र के हृदय में संसार के प्रति उदासीनता और संयम के प्रति अभिरुचि पैदा हो गई। वैराग्य के रंग में उनकी आत्मा रंग चुकी थी। अन्त में सम्वत् १८१८ मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन लाभ-वेला में दोनों पिता-पुत्र ने पूज्य श्री के पास चारित्र मार्ग अंगीकार कर लिया।

श्री गुमानचन्दजी म० ने अपनी तीव्र बुद्धि के कारण थोडे ही समय में व्याकरण साहित्य और आगमों का अध्ययन कर लिया। ज्ञान के साथ ही साथ तपश्चर्या की ओर भी आपने पर्याप्त ध्यान दिया। आप बहुत समय तक एका-न्तर और बेले बेले पारणा करते रहे। ज्ञान और तप के तेज से आपका व्यक्तित्व अद्वितीय हो गया था। आपके अनुपम व्यक्तित्व को देखते ही दर्शकों के दिल में सहसा आपके प्रति श्रद्धा जागृत हो जाया करती थी।

आपकी वक्तृत्व शक्ति भी अद्भुत थी। इस वक्तृत्व कला द्वारा आपने शासन की बहुत प्रभावना की। जैनेतर समाज में भी दया-धर्म का प्रचार करना आपकी मुख्य प्रवृत्ति थी। आपके ज्ञान के प्रकाश, चारित्र के तेज और वक्तृत्व के आकर्षण से जैन धर्म का खूब प्रचार हुआ। ज्ञान के साथ चारित्र की उत्कृष्ट-ता के कारण लोगों पर आपका बहुत प्रभाव पडता था। आप जहां पधारते वहां आपके जयनाद से आकाश गूंज उठता था।

आप प्रायः मारवाड में ही विचरण किया करते थे। आपके उपदेशों की उस काल म अधिक आवश्यकता थी क्योंकि धार्मिक और ऐतिहासिक दृष्टि से वह

समय क्रान्ति का था। सं० १८५७ के आसपास में देश की परिस्थिति विषम थी। वातावरण क्षुब्ध और अशान्त था। धार्मिक क्षेत्र में यतियों का बोलबाला था और प्रतिमा-पूजन तथा तत्सम्बन्धी क्रिया कलापों तक ही धार्मिकता सीमित थी। ऐसे वातावरण में शुद्ध वीतराग-धर्म की प्ररूपणा और प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता थी।

इस आवश्यकता की पूर्ति पूज्य श्री गुमानचन्दजी म० के त्याग और वैराग्यमय उपदेशों के द्वारा बहुत कुछ अंशों में हुई। ऐसे विषम काल में जनता को अपनी ओर आकृष्ट करना आप जैसे प्रभावशाली पुरुषों का ही काम था। आपने मारवाड़ में विचरण करके धर्म-भावना की ज्योति जगमगाती रक्खी।

आपके चतुर्मासों की सूची इस प्रकार है:—

संबत १८१९ में रियां
" १८२० " भिलाडा
" १८२१ " निवाज
" १८२२ " पाहुनै
" १८२३ " पाली
" १८२४ " जयपुर (१ दीक्षा)
" १८२५ " आगरा
" १८२६ " गगराणा
" १८२७ " नागोर
" १८२८ " जालोर (१ दीक्षा)
" १८२९ " पाली (१ दीक्षा)
" १८३० " सोजत
" १८३१ " पाली
" १८३२ " रियां
" १८३३ " जोधपुर
" १८३४ " पीपाड
" १८३५ " बीकानेर
" १८३६ " पाली
" १८३७ " नागौर
" १८३८ " पीपाड
" १८३९ " पाली
" १८४० " रियां
" १८४१ " नागौर (१ दीक्षा)
संवत् १८४२ " पीपाड
" १८४३ " जोधपुर
" १८४४ " नागौर
" १८४५ " पीपाड
" १८४६ " रियां (१ दीक्षा)
" १८४७ " नागौर (१ दीक्षा
" १८४८ " जोधपुर (१ दीक्षा)
" १८४९ " भीलवाडा (२ दीक्षा)
" १८५० " शाहपुरा
" १८५१ " पीपाड
" १८५२ " पाली (१ दीक्षा
" १८५३ " नागौर
" १८५४ " जोधपुर
" १८५५ " मेडता (२ दीक्षा)
" १८५६ " पाली
" १८५७ " नागौर
" १८५८ " मेडता

इस प्रकार सं० १८१८ से सं० १८५८ तक ४१ वर्ष पर्यन्त आप धर्म का उद्योत करते रहे ।

इतने समय में अनेक भव्य आत्माओं ने आपके पास दीक्षा धारण की । आपका शिष्य परिवार काफी समृद्ध था । आपके पास सं० १८४८ में वैशाख शुक्ला पञ्चमी को जोधपुर के पास मंडोर में आम्रवृक्ष के नीचे श्री रत्नचन्द्रजी की दीक्षा हुई । ये वे महापुरुष हैं जिन्होंने आगे चलकर पूज्य श्री के पाट को सुशोभित किया और जिनके नाम से यह सम्प्रदाय विख्यात है ।

पूज्य गुमानचन्दजी म० के १२ शिष्य हुए । उनमें से मुख्य मुख्य मुनिओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

मुनि श्री दौलतरामजी महाराज

आपने सं० १८२९ के पाली चातुर्मास में पूज्य श्री गुमानचन्दजी म० से दीक्षा ली । आप बड़े जितेन्द्रिय थे । चालीस वर्ष तक आपने छ विगई का त्याग का पालन किया था । आप रूक्ष आहार करते थे । लेखन कला में बडे कुशल थे। आपने कई शास्त्रों की प्रतियां अपने सुन्दर अक्षरों में लिखी थी । उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—(१) ठाणांग सूत्र टव्वा सहित, पृष्ठ २३२, पाटण के गुलाबचन्द लालचन्द की धर्मशाला में सम्वत् १८५० कार्तिक शुक्ला ७ को लिखी। (२) आचारांग द्वितीय श्रुत स्कन्ध, पृष्ठ १९५, पत्तनपुर में १८४७ भाद्रपद कृष्णा ९ चन्द्रवार में लिखा ।

उक्त प्रशस्तियों से यह भी मालूम होता है कि आप दूर दूर तक विचरण करते थे । सम्वत् १८६२ में आपका स्वर्गवास हुआ ।

मुनि श्री प्रेमचन्द्रजी महाराज

आपने सं० १८२८ के जालोर के चातुर्मास में पूज्य श्री से दीक्षा धारण की थी । आप घोर तपस्वी थे । तपस्या के फलस्वरूप आपको कुछ सिद्धियां

भी प्राप्त हो गई थी। आपके सम्बन्ध में कई चमत्कार पूर्ण घटनायें प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिए एक-दो घटनायें इस प्रकार हैं:—

एक बार विहार करते हुए आप सोजत नगर में पधारे। नगर में पहुंचते २ सन्ध्या का समय समीप आ गया। आप निवास के लिए मकान की गवेषणा करने लगे। एक स्थान पर कुछ अन्यधर्मावलम्बी लोग निठल्ले बैठे २ गपशप कर रहे थे। मुनि श्री ने स्थान के लिए पूछा तो उन लोगों ने कुतूहल-वश पास की हवेली में उतरने की अनुमति दे दी। वह हवेली बडी विशाल थी और लम्बी मुद्दत से जन शुन्य पडी थी। ऐसा होते हुए भी दिन स्वल्प शेष रहने से मुनि श्री उसी म ठहर गये।

मुनि श्री के पधारने का समाचार पाकर भक्तजन भी उपस्थित हुए और महाराज श्री से प्रार्थना करने लगे कि—"गुरुवर! यह शून्य मकान है। इसमें ठहरना खतरे से खाली नहीं है। भला, आपको यहां किसने ठहराया? अब भी आप शीघ्र ही स्थान बदल दीजिए। अभी थोडा दिन शेष है।" तपस्वीजी ने कहा—"भाई! कोई चिन्ता की बात नहीं है। अभी तो हम यहां ठहर ही गए हैं।" मुनि श्री ने सोचा कि मुझे तो कोई डर नहीं है परन्तु कहीं यह छोटा साधु डर जायगा तो ठीक न होगा। इसलिए उन्होंने थोडी सी अफीम लाकर छोटे साधु को खिला दी ताकि उसे नींद आ जाय और वह भय से मुक्त रह सके।

अफीम के प्रभाव से छोटे मुनिजी को सुख से नींद आ गई। स्वयं तपस्वीजी जागृत अवस्था में ज्ञानध्यान में लीन रहे। करीव डेढ प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने पर ऊपर से बडे २ पत्थर बरसने लगे। पत्थरों की वर्षा चालू रही परन्तु पत्थर बरसाने वाला दृष्टि गोचर नहीं हुआ। इस परिस्थिति में कौन साधारण जन नहीं घबरा जाता? किन्तु तपस्वी जी कहां डरने वाले थे? उन्होंने निडरता से इधर उधर देखा। कुछ दिखाई नहीं दिया। आखिर वे अपना रजोहरण लेकर ऊपर की मेडी पर चढे। वहां जाकर देखा कि एक कमरे में स्वच्छ शय्या पर शुभ्र वस्त्रों से आच्छादित एक पुरुष बैठा है। उसे देखते ही तपस्वीजी निर्भयता से बोल उठे—"ओ सिंघी जी (मकान मालिक)! रात के समय ऐसा उत्पात क्यों मचाते हो? हम तो इजाजत लेकर ही इस मकान में उतरे हैं। अगर तुम्हें नागवार गुजरता हो तो हम प्रातःकाल यहां से चले जा सकते हैं, लेकिन रात के समय तो चाहे जितने प्रलयंकार उत्पात करने पर भी हम यहां से नहीं जा सकते।

तपस्वीजी की निर्भय-वाणी सुनकर वह देव बडा प्रसन्न हुआ और उसने उत्पात न करने का वचन दिया। उसने कहा "आप यहां खुशी से विराजें लेकिन ऊपर कोई न आने पावे।"

वह रात्रि कुशलता से बीत गई। प्रातःकाल होने पर जब लोगों ने दोनों मुनियों को सकुशल देखा तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। इस प्रत्यक्ष चमत्कार से तपस्वीजी के प्रति जनता की श्रद्धा प्रगाढ़ हो गई।

उसी स्थान पर तपस्वीजी के व्याख्यान होने लगे। नर-नारी निडर होकर व्याख्यान सुनने के लिए आने लगे। एक दिन किसी बालक ने वहां अशुचि कर दी। ऐसा होते ही एक भयंकर काला नाग फण फैलाता हुआ अचानक वहां निकल पडा। उपस्थित जनता भय से विह्वल हो गई। तपस्वीजी ने जनता को आश्वासन दिया और सर्प की तरफ देख कर कहा—"सिधी जी ! तुमने तो खुली इजाजत दे दी थी, फिर यह उसके विपरीत आचरण कैसे ?" तपस्वीजी का इतना कहना हुआ कि सर्प एकदम अदृश्य हो गया। इस घटना से तपस्वीजी की महिमा सर्वत्र फैल गई। जगह जगह तपस्वीजी के चमत्कार की चर्चा थी।

उस समय सोजत के तालाब पर चेतनदास नाम का एक साधु रहता था। वह अपनी सिद्धियों के लिए दम भरता था। जब उसने तपस्वीजी के चमत्कार की घटना तथा उनकी महिमा सुनी तो वह उसके लिए असह्य हो गई। क्षुद्र प्रकृति के लोगों का यह स्वभाव होता है कि वे दूसरों का उत्कर्ष नहीं देख सकते। तपस्वीजी के चमत्कार को मिथ्या साबित करने के लिए और अपनी सिद्धियों के चमत्कार को बतलाने की नीयत से वह अपने भक्तों को साथ लेकर तपस्वीजी के स्थान पर आने के लिए रवाना हुआ। दो सिद्धों के परस्पर विरोधी चमत्कार देखने की अभिलाषा से, पक्षपात से और कुतूहल से प्रेरित होकर कई लोग उसके साथ हो लिए।

तपस्वी जी के भक्तों ने उन्हें खबर दी कि अपना चमत्कार बतलाने के लिए अपनी भक्त मण्डली सहित चेतनदास चला आ रहा है, सो आप भी सावधान हो जावें। महाराज श्री ने सबको शान्ति रखने के लिए कहा और स्वयं भी शान्ति के साथ अपने आसन पर विराजते रहे। कुछ काल के बाद सामान्य शिष्टाचार की मर्यादा का भी उल्लंघन करता हुआ "कहां है प्रेमचन्द ढूंढिया" इस प्रकार अंट-शंट बकता हुआ चेतनदास वहां आ पहुँचा।

तपस्वीजी शान्त भाव से अपने स्थान पर विराजे रहे। ज्योंही चेतनदास ने महाराज की ओर तथा उनके हाथ में रहे हुए पुट्ठे की ओर दृष्टि डाली त्योंही वह उन्मत्त-सा हो गया और अपने डण्डे से अपने ही शरीर पर प्रहार करता हुआ तथा "प्रेमचन्द मारे रे ! प्रेमचन्द मारे रे !!" इस प्रकार चिल्लाता हुआ बाजार

तक पहुँचा । उसके भक्त लोग उसे पकड कर पुनः तपस्वीजी के पास लाये । वहां पर वह पुनः अपनी सही दशा में आ गया ।

चेतनदास अपनी सही अवस्था में आने के बाद तपस्वीजी से क्षमा-प्रार्थना करने लगा । तपस्वीजी म० ने कहा—"भाई मैंने तो कुछ भी नहीं किया। ऐसा करना हमारा धर्म नहीं । किसी अधिष्ठायक देव ने तुम्हारे साथ ऐसा वर्ताव किया होगा । अब निर्भय रहो ।"

इस घटना के बाद सोजत में यह उक्ति मशहूर हो गई—"परचा पडिया प्रेम का सोच लिया चेतनदास।" इस प्रकार की अनेक घटनायें आपके जीवन में घटित हुई हैं । तपस्वीजी म० को कई अंशों तक वाक्सिद्धि भी प्राप्त थी । कहा जाता है कि—"एक बार आप आहार करके अपने पात्र आदि उपकरण व्यवस्थित कर रहे थे कि सामने से जाने वाले घोडे की टाप सुनाई दी। तपस्वीजी बोले कौन है ? यह सुनकर घोडे का सवार ठाकुर विचारने लगा कि मैं प्रेमचन्दजी म० के सामने होकर चला आया । वह ठाकुर पुनः लौट कर महाराज श्री के पास आया और क्षमा मांगता हुआ अपना परिचय देने लगा।

तपस्वीजी ने उस ठाकुर से इतना ही कहा—तुम औरों के बच्चों को तो मारते फिरते हो और अपने सन्तान की आशा करते हो, यह कैसे हो सकता है ? यदि अपने लिए संतति सुख चाहते हो तो औरों के बच्चों की हत्या मत करो, इस एक ही वाक्य से प्रेरित होकर ठाकुर ने भविष्य में हिंसा (शिकार) न करने का संकल्प कर लिया । ऐसा करने के बाद ही उसे पुत्र-प्राप्ति हुई । कहा जाता है कि उसके सात पुत्र हुए ।

इस प्रकार तपस्वीजी का सारा जीवन ऐसी २ चामत्कारिक घटनाओं से भरा हुआ है । आपने इन चमत्कारों के प्रभाव से धर्म का उद्योत और शासन की प्रभावना की । तपस्वीजी ने अपने तप के प्रभाव से सर्वसाधारण को प्रभावित करते हुए जिन-शासन को दिपाया । सम्वत् १८६९ में आपका स्वर्गवास हो गया ।

मुनि श्री लक्ष्मीचन्द जी महाराज

आपने सम्वत् १८२७ में नागौर शहर में पूज्य श्री के पास दीक्षा धारण की थी । आपकी साधुता आदर्शरूप थी । आपने पेंतीस वर्ष तक केवल एक चादर से ही निर्वाह किया । सम्वत् १८६८ में आपका स्वर्गवास हो गया ।

मुनि श्री ताराचन्दजी महाराज

आपने सम्वत् १८४१ में पूज्य श्री के पास नागौर में चारित्र-मार्ग अंगीकार किया। आप बड़े तपस्वी और उत्कृष्ट क्रिया-पात्र संत थे। आपने पांच विगई के त्याग कर रक्खे थे। ऐसा होते हुए भी बेले बेले पारणा करते थे। आप अत्यन्त सावधानी तथा सूक्ष्मता से संयम का पालन करते थे। सम्वत् १८५३ में आपका स्वर्गारोहण हुआ।

जिस दिन आपका स्वर्गवास हुआ उसी रात को राजोसी ग्राम में विराजमान पूज्य श्री गुमानचन्दजी म० को ऐसा स्वप्न-दर्शन हुआ, मानो तपस्वीजी ही उन्हें कह रहे हैं कि–"आप समर्थ पुरुष हैं। साधु-समुदाय में आई हुई शिथिलता को दूर करने के लिए आपके पुरुषार्थ की आवश्यकता है। आहार, वस्त्र, पात्र, स्थानक आदि की निर्दोषता की ओर अधिक ध्यान दीजिए। आहारादि की विशुद्धि में आई हुई कमजोरियों को दूर करना आप जैसे समर्थ आचार्यो का ही कर्तव्य है।"

प्रातःकाल इस स्वप्न को याद कर पूज्य श्री अत्यन्त विस्मित हुए। उन्हें इस स्वप्न में सचाई मालूम हुई। इस स्वप्न के पीछे उन्हें दिवंगत तपस्वीजी म० की प्रेरणा प्रतीत हुई। पूज्य श्री ने तत्कालिक साधु-समुदाय के आचार-विचार पर सूक्ष्मता से विचार किया और उन्हें उसमें अनेक त्रुटियां दिखाई दीं।

पूज्य श्री ने आये हुए स्वप्न से प्रेरणा प्राप्त की और साधु-समुदाय में आई हुई कमजोरियों को दूर करने का संकल्प किया। उन्होंने अपने शिष्य-समुदाय को एकत्रित किया और उनसे इस सम्बन्ध में विचार-विनिमय किया। अन्त में यह निश्चय किया कि संयम में आई हुई कमजोरियां दूर करने के लिए कुछ नियम बनाकर उनका यथाविधि पालन किया जाय। साथ ही आजतक लगे हुए दोषों के प्रायश्चित के रूप में नवीन दीक्षा ली जाय।

पूज्य श्री के उक्त विचारों से निम्न लिखित तेरह मुनिराज सहमत हुए–

(१) मुनि श्री दुर्गादासजी म० (२) मुनि श्री गोयन्दमलजी म० (३) मुनि श्री सूर्यमलजी म० (४) मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी म० (५) मुनि श्री प्रेमराज जी म० (६) मुनि श्री दौलतरामजी म० (७) मुनि श्री रत्नचन्दजी म० (८) मुनि श्री किशनदासजी म० (९) मुनि श्री वलीचन्दजी म० (१०) मुनि श्री मोटरमलजी म० (११) मुनि श्री अगरेजजी (१२) मुनि श्री रायचन्द्रजी और (१३) मुनि श्री गुलजी म० (१४) चौदहवें श्री गुमानचन्दजी म० स्वयं

ये चौदह मुनिराज सं० १८५४ में बडलू (मारवाड) पधारे। बडलू के प्रख्यात उद्यान में अपने निश्चय के अनुसार नाना दृढ वैराग्य से प्रेरित होकर चौदह संतों ने नवीन दीक्षा धारण की। उसी समय निम्न लिखित २१ नियम चारित्र की विशेष शुद्धि के लिए निर्धारित किये गये:—

(१) आधा-कर्म दोष से दूषित स्थानक और उपाश्रय में रहना नहीं।
(२) साधु के निमित्त खरीदे हुए, गिरवी रखे हुए, और किराये पर लिये हुए भवन में उतरना नहीं।
(३) साधु के निमित्त खरीदे गये वस्त्रपात्र लेने नहीं।
(४) प्रतिदिन एक ही घर से धोवन या गरम जल लेना नहीं। (पीने के लिए)
(५) साधु के निमित्त खरीदे हुए सून, पाट-पाटला, हिंगलू, ढल, रोगन आदि लेने नहीं।
(६) मिसरु छींट आदि रंगीन वस्त्र वाले पुट्ठे या पुट्ठे पर लगाने के लिए वैसे वस्त्र लेने नहीं।
(७) लाल, पीली, हरी, काली आदि रंगीन किनारी वाले वस्त्र लेने और रखने नहीं।
(८) धूसा, धीरसा, फाबरी आदि रंगीन कसीदे निकाले हुए, विविध चित्रों से चित्रित कोर-किनारी लगे हुए बहुमूल्य दुशाले लेने नहीं।
(९) पानी, घी और शाक के लिए टोनसी रखनी नहीं। केवल हिंगलू के लिए छूट है शेष के लिए निषेध है।
(१०) मोम, तेल, रोगान आदि भी वासी रखना नहीं।
(११) किसी प्रकार के जीमनवार में उस दिन या दूसरे दिन आहार आदि के लिए जाना नहीं।
(१२) स्थानक में भावना भाने पर नहीं जाना, कोई बुलाने आवे तो उस समय आहार के लिए नहीं जाना।
(१३) चातुर्मास के उतरने पर मार्गशीर्ष कृष्णा १ को विहार कर देना। शारीरिक बाधा हो तो छूट है।
(१४) मर्यादा के ऊपर कपडे रखने नहीं।
(१५) मर्यादा से अधिक पात्र रखने नहीं।
(१६) दोनों समय सब वस्त्र, पात्र आदि का प्रतिलेखन करना।
(१७) पौषध और देशावकाशिक संवर के अतिरिक्त गृहस्थ को अपने स्थान पर रखना नहीं। यह मर्यादा केवल साधुओं के शयन के स्थान के लिए है।
(१८) अभिप्राय बताकर गृहस्थ को द्रव्य दिलवाना नहीं।
(१९) लाला वाली (जिसके तोडने पर भीतर मकडी के तान सी तांत दिखे) रोटी लेनी नहीं।

(२०) बडे संत को दिखावे बिना आर्याजी को कपडा, सूत्र, पाना आदि देना नहीं। कदाचित् दिया हो तो कह देना चाहिए।
(२१) कलाल के यहां का पानी लेना नहीं।

उक्त २१ बोल की मर्यादा वडलू के उद्यान में सम्वत् १८५४ आषाढ कृष्णा २ के दिन बांधी गई। इस मर्यादा पत्र पर सहमत संतों के हस्ताक्षर हुए। अभी तक पूज्य श्री जयमल्लजी और पूज्य कुशलदासजी म० के साधुओं का एक ही गच्छ था, २१ बोल की मर्यादा के बाद वह सम्बन्ध टूट गया।

पूज्य श्री गुमानचन्दजी म० ने उक्त २१ नियमों की मर्यादा बांध कर साधु समुदाय में आई हुई कमजोरी और शिथिलता का निवारण किया। इन नियमों को पालने और पलवाने का पूज्य श्री पूरा पूरा ध्यान रखते थे।

उक्त नियमों के यथाविधि पालन से साधु समुदाय के संयम की निर्मलता में वृद्धि हुई। इस प्रकार पूज्य श्री ने निर्मल रूप से संयम की आराधना की और दूसरों को भी निर्मल चारित्र के पालन में दृढता प्रदान की।

इन नियमों के निर्माण के बाद चार वर्ष तक पूज्य श्री शासन को दिपाते रहे। सम्वत् १८५८ कार्तिक कृष्णा ८ के दिन मेडता नगर में सेठ सागरमलजी के नोहरे में चार प्रहर का संथारा पालकर पूज्य श्री गुमानचन्दजी म० स्वर्ग सिधार गये। क्रियोद्धारक के रूप में आपका शुभ नाम चिरकाल तक स्थायी रहेगा।

आचार्य पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी महाराज

आप वे शासन प्रभावशाली आचार्य हैं जिनकी समुज्ज्वल कीर्ति-कला और परम पावन नाम से यह सम्प्रदाय आज भी गौरवान्वित है। न केवल यही सम्प्रदाय अपितु समस्त स्थानकवासी समाज आपका इसलिए चिर ऋणी रहेगा कि आपने अपने अद्भुत व्यक्तित्व से इसका संरक्षण, संवर्द्धन, प्रचार और विस्तार किया। जैनाकाश के महान ज्योतिर्धरों की पंक्ति में आपका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। आप जैन शासन के पूर्वाचार्यों की रत्नमाला के एक अनमोल रत्न हैं।

शुभ जन्म और बचपन

मरुधर भूमि पर 'कुडगांव' नाम का एक छोटा सा ग्राम है। इस अप्रसिद्ध ग्राम में जन्म लेकर आपने इसे प्रसिद्ध बना दिया। वहां लालचन्द्र जी वडजात्या नाम के प्रतिष्ठित सरावगी रहते थे। उनकी 'हीरादे' नामक पतिव्रता धर्मपत्नी

की पवित्र कूंख से सम्वत् १८३४ वैशाख शुक्ला पञ्चमी को हमारे चरित्र नायक का जन्म हुआ ।

महान जीव जब गर्भ में आते हैं तब से ही उनकी महानता के चिन्ह दिखाई देने लगते हैं । कहा जाता है कि आपके शुभ जन्म के पूर्व आपकी माता ने स्वप्न में जलते हुए दीपक को अपने मुंह में प्रवेश करते हुए देखा । इस शुभ स्वप्न से ही आपके माता-पिता ने समझ लिया था कि उन्हें अलौकिक रत्न की प्राप्ति होने वाली है । कुछ दिनों के बाद सचमुच ही 'रत्नचन्द्र' के रूप में उन्हें अलौकिक रत्न की प्राप्ति हुई ।

इस अनमोल रत्न को पाकर दम्पती निहाल हो गये । रत्न के समान तेजस्वी पुत्र को पाकर उनके हर्ष की सीमा न रही । जन्म से पूर्व आये हुए स्वप्न तथा नव जात पुत्र के शुभ लक्षणों को ध्यान में लेकर उनका गुण निष्पन्न नाम रक्खा गया—'रत्नचन्द्र' ! कौन जानता था कि यह 'रत्नचन्द्र' आगे चलकर मिथ्यात्व रूप अन्धकार का भेदन कर सम्यग् धर्म का उद्योत करने वाला रत्नचन्द्र होगा ।

यद्यपि इस दम्पती को लखीचन्द्र, पूर्णचन्द्र और प्रेमचन्द्र नामक तीन पुत्र प्राप्त थे तथापि इस महान पुत्र-रत्न को पाकर वे कृतार्थ हो गए । वस्तुतः महा-पुरुष अपने जन्म के द्वारा अपने जन्म-दाता जनक जननी और जन्म भूमि को कृतार्थ कर देते हैं ।

बालक रत्नचन्द्र के जन्म के बाद उनके माता-पिता को अधिक अधिक अनुकूल संयोगों की प्राप्ति होने लगी । इस लाभ को वह दम्पती, बालक के पुण्य प्रभाव का फल-मात्र समझते थे । अतः माता की ममता और पिता का प्रेम बालक पर विशेष रूप से उमड पडा था ।

बालक रतन माता-पिता की वात्सल्यमयी गोद में दूज के चांद की तरह बढ़ने लगा । बाल-सुलभ चेष्टाओं और अपनी सुकुमार सुन्दर सुखाकृति से वह अपने माता पिता को आनन्दित करने लगा । उसकी एक मधुर मुसकान से माता-पिता के सुख का सरोवर तरंगित हो उठता था । उसकी स्वाभाविक किलकारियों से उन के मानस प्रमोद से भर जाते थे ।

माता पिता के प्रेम के साथ ही साथ बालक को सुन्दर सुन्दर संस्कार भी प्राप्त होने लगे । बचपन में प्राप्त होने वाले संस्कारों का जीवन के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ होता है । बालक के द्वारा ग्रहण किए हुए संस्कारों के अनुसार उसका

भावी जीवन बनता है। अतएव बालकों को अच्छे संस्कार प्राप्त हों-इस बात का पूरा खयाल मां बाप को रखना चाहिए।

संस्कारी माता पिता की छत्रछाया में आपकी शैशव अवस्था शान्ति और आनन्द के संग गुजरी।

बहुत बार व्यक्ति के जीवन का निर्माण जिस प्रकार से भविष्य के गर्भ में होता है तदनुसार ही नियति के नियम से संयोगों की प्राप्ति हो जाती है। भविष्य में होने वाले उस महापुरुष के जीवन के विकास के लिए 'कुडगांव' जैसा छोटा सा गांव प्रकृति को अपर्याप्त मालूम हुआ। वह इस 'रत्न' को ऐसे स्थान पर ले जाना चाहती थी जहां इसके योग्य परीक्षक के हाथ संस्कृत होकर यह विश्व हित में काम आवे।

प्रकृति के इस विधानानुसार नागौर निवासी सेठ गंगारामजी ने सम्वत् १८४० में आपको गोद ले लिया। सेठ गंगारामजी ने आपके शिक्षण का समुचित प्रबन्ध किया। आपकी बुद्धि बडी तीक्ष्ण थी। बचपन से ही आपकी प्रतिभा का परिचय सबको मिलने लगा। विनय, विद्या और शान्तस्वभाव आदि सद्गुणों का विकास आपमें सहज रूप से हो रहा था।

महापुरुष बनने वाले व्यक्तियों में कतिपय विशेषताएं जन्मजात हुआ करती हैं जो सर्वसाधारण में नहीं होती। इन्हीं जन्मजात विशेषताओं को बाहरी जगत से मेल कराते हुए तथा उनका विकास करते हुए वे महापुरुष बन जाते हैं। हमारे चरित नायक रत्नचन्द्र जी में ऐसी कई विशेषताएं बचपन से ही दिखाई देती थीं। जिनसे उनके उज्ज्वल भविष्य का पता चलता था।

'होनहार विरवान के होत चीकने पात' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है। इसके अनुसार भविष्य में दीखने वाले जीवन का थोडा परिचय जीवन की प्रारम्भिक अवस्था से ही मिलने लगता है।

वैराग्य और दीक्षा

सम्वत् १८४७ में पूज्य श्री गुमानचन्द्र जी म० ठा० ७ ने नागौर में चातुर्मास किया। पूज्य श्री के त्याग पूर्ण जीवन और प्रभावशाली व्याख्यान से आकृष्ट होकर नागौर निवासी जैन जैनेतर जनता पूज्य श्री की वाणी का रसास्वादन करने के लिए उत्तरोत्तर अधिक संख्या में आने लगी। सेठ गंगारामजी तथा उनके भाई नथमलजी, मोटो जी, और कुशलचन्द्रजी भी सपरिवार पूज्य श्री

के व्याख्यानों का लाभ लेने के लिए आया करते थे। उनके साथ बालक 'रत्नचन्द्र भी पूज्य श्री की सेवा में आया करता था।

'इस सम्पर्क के कारण वह होनहार बालक पूज्य श्री के प्रति खिंचता गया और बालक की प्रतिभा एवं शुभ लक्षण देखकर पूज्य श्री भी उसके प्रति सहज स्नेह दर्शाने लगे। परस्पर का यह स्नेह आकर्षण ऐसा था कि मानो अदृष्ट प्रकृति ने इस 'रत्न' को पूज्य श्री जैसे सुयोग्य रत्न-परीक्षक के सशक्त हाथों में सौंपने के लिए ही 'कुडगांव' से निकालकर यहां स्थानान्तरित किया हो। अस्तु !

पूज्य श्री अपने उपदेशों में वीतराग-धर्म का स्वरूप बड़ी खूबी से समझाते थे। आपके उपदेश संसार की असारता, धन-दौलत की नश्वरता, जीवन की क्षण-भंगुरता और संयम की सार-रूपता से भरे हुए होते थे। पूज्य श्री संसार में होने वाले स्वार्थ के अकाण्ड ताण्डव का बड़ा मर्म-स्पर्शी विवेचन करते थे। आपके प्रवचन से त्याग और वैराग्य की धारा अविकल रूप से प्रवाहित होती थी।

पूज्य श्री के वैराग्य मय उपदेशों को सुनकर १४ वर्ष के बालक रत्नचन्द्र के कोमल मानस में वैराग्य भावना जागृत हो गई। जिसका अन्तःकरण स्वच्छ और निर्मल होता है उस पर वीतराग की वाणी का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। बालक रत्नचन्द्र ने संकल्प कर लिया कि "मैं संसार के स्वार्थमय माया-जाल में न फंसकर वीतराग प्ररूपित त्याग मार्ग का ही आराधन करूंगा। ये त्यागी मुनि वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिए जो मार्ग बताते हैं उसी पर चलकर मैं भी सुख का साक्षात्कार करूँगा।"

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि पूज्य श्री ने किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य में रखकर उपदेश नहीं दिया था वे आम जनता को लक्ष्य करके उपदेश दे रहे थे फिर सर्व-साधारण युवकों, वृद्धों को वैराग्य न आकर एक चौदह वर्ष के बालक को वैराग्य क्यों कर आ गया ? बात यह है कि जिस स्लेट पर पहले से कुछ लिखा हुआ होता है उसी पर अगर दूसरी बात लिखी जाती है तो वह ठीक नहीं उगती। जो स्लेट साफ होती है उसी पर लिखी हुई बात लोक-दृष्टि में उतरती है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के मानस पटल पर सांसारिक विषय-वासनाओं और काम विकारों के चित्र चित्रित रहते हैं उस पर त्याग-वैराग्य के उपदेश प्रायः असर नहीं करते। इसके विपरीत जिसका मानस स्वच्छ है, और जो विकारों के वश में नहीं हुआ है उस पर वीतराग की वाणी का असर सहज में पड सकता है।

दूसरी बात यह है कि उपदेश को ग्रहण करने की योग्यता सबकी भिन्न भिन्न होती है। मेघ का पानी समान रूप से गिरने पर भी जितना बडा पात्र होता है उतना ही पानी उसमें समाता है; शेष पानी उसके ऊपर होकर बाहर निकल जाता है। तात्पर्य यह है कि जिसमें जितनी ग्रहण-शक्ति होती है उतना ही उसमें समा सकता है। उस चतुर्दश वर्षीय बालक में इतनी क्षमता थी कि वह त्याग और वैराग्य के उपदेश को हृदयंगम कर सका। पात्रता और हृदय की निर्मलता के कारण उस बालक में वैराग्य के बीज अंकुरित हो गये।

इसी बीच आपके पिता श्री गंगारामजी का देहावसान हो गया। इस अवसान से आपकी वैराग्य भावना में और भी अधिक वृद्धि हो गई। आपने अपनी माता श्री गुमानबाई के सामने दीक्षा धारण करने की भावना व्यक्त करते हुए उनकी अनुमति मांगी। यह सुनकर माता को अत्यन्त दुःख हुआ। आपने माता को बहुत समझाया पर वह किसी तरह अनुमति देने के लिए तैयार न थी। माता का मोह उनके त्याग धर्म के अंगीकार में बाधा रूप हो गया।

त्याग मार्ग पर चलने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षुओं के मार्ग में सबसे बडा बाधक होता है-स्वजनों का उसके प्रति मोह। जो इस मोह के वशीभूत हो जाता है वह फिर इस मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता। लेकिन जो व्यक्ति इस मोह पर विजय प्राप्त कर लेता है वह सुखपूर्वक इस मार्ग पर प्रगति कर सकता है। शास्त्रकारों ने इस मोह को अनुकूल उपसर्ग कहा है। प्रतिकूल उपसर्गों की अपेक्षा अनुकूल उपसर्गों पर विजय पाना जरा टेढी खीर है।

माता की सम्मति लेकर उनकी आज्ञा प्राप्त करने की आशा से बालक रत्नचन्द्र उदासीन भाव से दैनिक व्यवहार का कार्य करने लगा। उसके अन्तःकरण में वैराग्य भावना उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही थी। परन्तु बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी माता की भावना में रंच मात्र भी परिवर्तन होता हुआ दिखाई न दिया। बालक रत्नचन्द्र का वैराग्य अब इतना प्रबल हो गया था कि माता की आज्ञा की प्रतीक्षा का धैर्य उसके लिए असह्य हो गया। अतएव अन्य उपाय न देख कर वे नागौर छोडकर किसी अज्ञात स्थान के लिए चल दिये।

उस समय के कविवर [illegible] ने इस प्रसंग का इस प्रकार निर्देश किया है:—

गुमान तणों उपदेश सूं लेवे संयम भार।
जिन माता करती वणी जाणे घणा नर नार॥

नत्थू जी ने पूछियो आज्ञा देवो नी दयाल ।
मनरा मनोरथ सिद्ध करूँ तोड़ूँ कर्म जंजाल ॥
जद थाने आज्ञा दीधी, म्हारो आतमराम ।
संजम चोखो पाळजो याद जो म्हाने राख ॥
इकदिन गुडी उडावता माता करी तकरार ।
विनो कारी ने रतनजी गुडी फाडी तिणवार ॥
गेणो खोल माता ने दियो सवाणो देवूँ सिणगार ।
मोटो वेगो आऊंलां डर लागो अणपार ॥
लारे लियो मोतीलाल ने ल्यावा दिया दौड़ ।
सहर नागौर नूं छोड़स्या उपनगर [illegible] गोळ ॥
गांवां में करी गोचरी कर साधु को सो वेस ।
लारासूं लक्ष्मीचन्दजी साधु आया तिन [illegible] ॥
वैराग मांहि झिल रह्या रतन मुनि महाराज ।
छिण जावे सो आवे नहीं सारें म्हारा आतम काज ॥

आपने संसार समुद्र से पार करने वाले अपने गुरुदेव श्री गुमानचन्द्रजी म० से निवेदन कर दिया था कि—"मैं आपकी सेवा में दीक्षित होना चाहता हूँ। मेरी माताजी किसी तरह मुझे अनुमति नहीं दे रही हैं। मैंने उनकी अनुमति की प्रतीक्षा में बहुत धैर्य से काम लिया है परन्तु अब मैं अधिक विलम्ब नहीं सह सकता हूँ। अतएव नागौर छोड़कर जा रहा हूँ। आप मुझे जल्दी ही सम्भालें। वैराग्य मार्ग का यह पथिक अधिक काल तक इधर उधर न भटके इसको ध्यान में रख कृपा कर मुझे शीघ्र ही उबारें।"

पूज्य श्री गुमानचन्द्र जी म० बड़े विचक्षण और दूरदर्शी थे। वे बालक रतनचन्द्र की प्रतिभा और उसके शुभ लक्षणों से प्रभावित भी हो चुके थे। उन्हें यह दृढ विश्वास हो गया था कि यह बालक अत्यन्त होनहार है; इसके हाथों से शासन की प्रभावना और अनेक प्राणियों का कल्याण होने वाला है। इसके साथ ही साथ इसकी अत्यन्त प्रबल वैराग्य भावना को ठेस पहुँचाना भी उचित नहीं है। अतएव शिष्य लोभ से नहीं मगर अगणित प्राणियों के कल्याण की उदार कामना से प्रेरित होकर बालक रतनचन्द्र को दीक्षा प्रदान करने का उन्होंने निर्णय किया।

नागौर छोड़ कर वैराग्यवान रत्नचन्द्र गांवों में भिक्षा वृत्ति करते हुए मण्डोर आ गये। पूज्य श्री ने भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का विचार कर मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्रजी म० को मण्डोर की तरफ विहार करवाया। मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी

म० ने मण्डोर के नागादरी स्थान में सं० १८४८ वैशाख शुक्ला पंचमी के शुभ मुहूर्त में श्री रत्नचन्द्र जी को परम पावनी भागवती दीक्षा प्रदान करदी । दीक्षा पाकर मुनि रत्नचन्द्र जी को वैसा ही हर्ष हुआ जैसा रंक को चिन्तामणी रत्न के मिलने से होता है । दीक्षा पाकर आपने अपने आपको धन्य माना । उनकी चिरकाल की कामना फलवती हुई ।

अध्ययन और विहार

दीक्षा ग्रहण कर लेने पर आपके जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। आप यह भली भांति समझते थे कि साधु जीवन फूलों की शय्या नहीं किन्तु शर-शय्या है। साधु को पद पद पर संकटों, परीषहों और उपसर्गों का सामना करना होता है । यह जानकर भी कष्टों को जीवन-विकास में सहायक मानकर आपने उनको सहन करने का दृढ संकल्प कर लिया था। प्रभु से आपने यही प्रार्थना की कि–"हे प्रभो ! मैं आपकी शरण में आया हूँ । मैंने आपका पवित्रतम मार्ग अंगीकार किया है । आपकी अनुपम कृपा से मुझ में वह शक्ति प्रकट हो जिसके द्वारा मैं दृढ़ता के साथ इस कठिन मार्ग का भली-भांति निर्वाह कर सकूं।

मण्डोर से विहार कर मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी म० के साथ आप जोधपुर पधारे। वहां मुनि श्री दुर्गादासजी म० विराजमान थे । जब मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी महाराज सा० ने नवदीक्षित मुनि श्री के साथ आपके दर्शन किये तब मुनि श्री दुर्गादास जी महाराज ने सम्मति प्रदान की कि अभी कुछ समय तक आप मेवाड तथा मालवा आदि क्षेत्र में विचरें इससे नवदीक्षित मुनि श्री के ज्ञानाराधन में विशेष अनुकूलता प्राप्त होगी और विहार कर गये ।

मुनि श्री रत्नचन्द्र जी म० नवदीक्षित ही थे । दीक्षा के प्रारम्भ में ही उन्हें दीर्घ-विहार करने का प्रसंग मिला । मुनि श्री कष्टों का सामना करने का पहले ही संकल्प कर चुके थे । वे भला इन कष्टों से कैसे विचलित हो सकते थे ?

मेवाड के क्षेत्रों में विचरते हुए नवदीक्षित मुनि जी ने अपना अध्ययन प्रारम्भ किया । बुद्धि की तीव्रता और स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण उनका अध्ययन शीघ्रता से होने लगा । थोडे ही समय में आपने व्याकरण, साहित्य, कोश और आगमों का ज्ञान सम्पादन कर लिया ।

अध्ययन-काल में आपकी मानसिक एकाग्रता, विषय के मर्म को समझने की शक्ति और साथ ही साथ परिश्रम विशेषतया उल्लेखनीय है । आपके विनय गुण के कारण गुरुजन आप पर सदैव प्रसन्न रहते थे । "विद्या विनयेन

शोभते" यह वाक्य आपने पूरी तरह हृदयंगम कर लिया था। इन सब कारणों से ही आपका ज्ञान निरन्तर विकसित होने लगा ।

ज्ञानाराधना के साथ साथ संयम निर्मलता की ओर भी आपका पर्याप्त ध्यान रहता था । 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः' का तत्व आपने अपने जीवन में उतारने का भरसक प्रयत्न किया । ज्ञान और क्रिया की निर्मल आराधना में ही आपने अपनी सफलता और कृतार्थता मानी ।

मेवाड प्रदेश में तीन वर्ष तक अपने गुरुजनों के साथ विचरण करते हुए आपने ज्ञान और संयम साधना का अच्छा अभ्यास कर लिया।

बालक रत्नचन्द्र के घर से निकल भागने के कारण माता बहुत दुखी हुई । उसने उन्हें खोजने के लिए बहुत से प्रयास किये और खोजते खोजते जोधपुर भी पहुँची । उन दिनों में महाराजा विजयसिंहजी जोधपुर के शासक थे । एक बार जब उनकी सवारी निकल रही थी तब यह माता किसी तरह उनके पास पहुँच कर अपने पुत्र का पता लगाने के लिए रो-रो कर निवेदन करने लगी । महाराजा ने उसे आश्वासन दिया और सोजत, जैतारण आदि समूचे मारवाड में रत्नचन्द्र जी की खोज करने का हुक्म जारी कर दिया । लेकिन मुनि रत्नचन्द्र जी तो मेवाड की भूमि पर विचरण कर रहे थे । मारवाड में उनका पता कैसे चलता ? बहुत प्रयास करने पर भी जब माता पता लगाने में असफल रही तो थक कर चुपचाप बैठ गई ।

मुनि श्री रत्नचन्द्र जी म० ने तीन चातुर्मास मेवाड में बिता कर चौथा चातुर्मास पीपाड में तथा पांचवा चातुर्मास पाली में किया । इन पांच वर्षों में सतत परिश्रम और गुरुदेव के प्रसाद से आप सुयोग्य विद्वान और चारित्र में आदर्श बन गये ।

पाली के चातुर्मास में आपकी माता को आपका पूरा वृत्तान्त मालूम हुआ । वह अपने पुत्र को वापस लाने के उद्देश्य से राज्य के अधिकारियों को साथ लेकर पाली आई । उस समय मुनि रत्नचन्द्र जी म० ने अधिकारियों को ऐसा उपदेश दिया कि वे भी आश्चर्य चकित हो गये । उन्होंने माताजी से कहा-"माताजी ! यह तो हमें भी मूण्डना चाहते हैं । अब इन्हें आपके साथ भेजना हमारी शक्ति से बाहर है । हो सके तो आप ही इन्हें समझाइये । हम आपकी सहायता अवश्य करेंगे ।"

यह सुनकर स्वयं माता अपने पुत्र को वापस करने के लिए मुनियों से झगडने लगी। मोहवश मुनिजनों की आसातना के पाप में उलझी हुई माता को मनि श्री रत्नचन्द्रजी म० ने उपदेश देना प्रारम्भ किया:—

माता को उपदेश

"माताजी ! आप मेरे झूठे मोह में पडकर पूज्य गुरुदेवों की आसातना कर रही हैं यह आपको शोभा नहीं देता। मैंने स्व-पर के कल्याण के लिए इन गुरुदेव की शरण ली है। ये मुझे संसार समुद्र से पार उतारने वाले उपकारी महापुरुष हैं। इस नाते आपको भी इनका उपकार मानना चाहिए।

माताजी ! संसार के सम्बन्ध कल्पना के खेल मात्र हैं। इनमें आसक्ति रखना बुद्धिमानों के लिए शोभास्पद नहीं है। दुनियां के सम्बन्धों में वास्तविकता नहीं है। अतएव कल्पना के चक्कर में पडकर वास्तविकता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

माताजी ! आप मुझे सुखी करने के लिए ही तो वापस ले जाना चाहती हैं ? मुझे दुख न हो यही तो आप चाहती हैं न ? परन्तु आपको यह ध्यान रखना चाहिए कि दुनिया में कहीं सुख की छाया के दर्शन भी नहीं हो सकते। आप जिस सुख को सुख समझ रही हैं—वह सुख आभास मात्र है। अगर आपको मेरा सुख प्रिय है तो मैं आपसे कहता हूँ कि मैं यहां परम सुखी हूँ। जो शाश्वत सुख संयम से प्राप्त होता है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता है।

माताजी ! क्या आप नहीं देखती हैं कि विश्व विजेता चक्रवर्ती, सम्राट, राजा महाराजा और वीर सेनानियों का कहीं पता नहीं है। सोने की दीवाल चुनाने वाले, वडी २ नगरियों को वसाने वाले और, आकाशचुम्बी कीर्ति-स्तम्भों को स्थापित करने वाले आज कहां की हवा खा रहे हैं ? वास्तव में दुनियां क्षणभंगुर और विनश्वर है। दुनियावी कार्यों से सुख पाने की आशा करना वालुका से तेल पाने की आशा के समान मिथ्या है। सुख का स्रोत एक मात्र संयम ही है। 'एगन्त-सुही साहू वीयरागी' अर्थात वीतरागी मुनि ही एकान्त सुखी है। इस सुख से छुडाकर आप मुझे कहां ले जाना चाहती हैं ?

माताजी ! आप कहेंगी कि मैंने घर से भागकर आपको दुख पहुंचाया। लेकिन आप अपने मोह के आवरण को दूर कर अगर सूक्ष्म दृष्टि से विचारेंगी तो आपको मालूम हो जायगा कि मैंने यह मार्ग अंगीकार करके मेरा और आपका

उपकार ही किया है। जीवन को सार्थक करने के लिए मोह पर विजय पाना आवश्यक हो जाता है। मोह पर विजय पाने के लिए ही मैंने यह मार्ग अंगीकार किया है।

मताजी ! मेरा और आपका परम सौभाग्य है कि मुझे यह चिन्तामणी रत्न प्राप्त हो सका। संयम की महिमा अपार है। बड़े २ सम्राट भी त्यागियों के चरण चूमने में अपना सौभाग्य समझते हैं। दुनियां त्यागियों के चरणों की धूलि को अपने मस्तक पर चढाती है। आप भी संयम की महिमा को समझें और अपने भाग्य को सराहें कि आपका पुत्र ऐसे चारित्र धन का धनी है जिसके सामने दुनिया का वैभव नगण्य है।

माताजी ! जिन माता पिता की सन्तान पञ्च महाव्रत स्वीकार करके संयमी जीवन यापन करती है वे माता पिता भी धन्य हैं !!

माताजी ! आप शान्त हों और मेरी कही हुई बातों पर सूक्ष्मता से विचार करें। आप मुझे आशीर्वाद दें कि मैं संयम का दृढता से पालन कर आपकी कूंख को दीपा सकूं।"

अपने पुत्र के मुख से ऐसा सारगर्भित वक्तव्य सुनकर माता का आवेग शान्त हो गया। वह कहने लगी—"तुम धन्य हो मेरी गोदी के दीपक ! तुम धन्य हो ! तुमने मेरा और मेरे कुल का नाम उज्ज्वल किया।"

मुनिराजों से अपनी गलती के लिए क्षमा प्रार्थना करती हुई माता उन्हें नागौर को पावन करने के लिए आग्रह करने लगी।

दूरदर्शी मुनिराज ने उसे आश्वासन दिया और यथासमय नागौर पधारना स्वीकार किया।

नागौर में पदार्पण

चातुर्मास समाप्त होने पर माता की विनती पर ध्यान देकर आपने नागौर की ओर प्रस्थान किया। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए आपका नागौर में पदार्पण हुआ। नागौर निवासी जनता आपके दर्शन पाकर हर्ष विभोर हो उठी। अपने यहीं के एक समय के बालक को इस आदर्श रूप में पाकर वहां के नरनारी प्रफुल्लित हो उठे। कैसा सुहावना यह परिवर्तन था। उन्हीं के बीच में रहने वाला एक बालक आज तरण-तारण गुरु के रूप में वहाँ उपस्थित हुआ।

वस्तुतः शत शत जन्मों के प्रयत्नों के बावजूद भी जिस संयम रत्न की प्राप्ति होना दुर्लभ है वह रत्न अपने यहां के एक नागरिक को सहसा प्राप्त हुआ यह नागौर निवासी नरनारियों के लिए गौरव की बात थी।

मुनि श्री रत्नचन्द्र जी म० ने नागौर निवासियों को अपने उपदेशामृत का पान कराया। इस समय मुनि श्री की वक्तृत्व शक्ति का ठीक-ठीक विकास हो चुका था। आपने मानव जीवन की दुर्लभता दिखा कर उसका सदुपयोग करने का उपदेश प्रदान किया। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के उपदेश के साथ ही साथ श्रावक का नैतिक जीवन कैसा होना चाहिए इसका भी तल-स्पर्शी विवेचन किया।

मुनि श्री के ऐसे भाववाही प्रवचनों को सुनकर जनता दंग रह गई। उसके सामने आपके दो रूप कल्पना के विषय गोचर हुए। आपका पूर्ववर्ती स्वरूप और आधुनिक संयमी रूप सब की कल्पना में आया। जनता ने महान परिवर्तन का साक्षात् उदाहरण देखा। उस समय के बालक रत्नचन्द्र को देखकर कौन कल्पना कर सकता था कि यही रत्न मुनि रत्न बनकर हमारा पथप्रदर्शक बनेगा? इस परि-वर्तन का सूक्ष्म महत्व तो महापुरुष ही जान सकते हैं। स्थूल बुद्धि वालों को तो स्थूल अन्तर ही दृष्टिगोचर होता है।

नागौर की जनता ने विचारा-कहां तो पहले संसार रूप सराय में मोह की नींद सोने वाले मुसाफिरों के साथ काम क्रोध और प्रमाद में पड़ कर जीवन के क्षण रूप अनमोल रत्न को गंवाने वाले रत्नचन्द्र और कहां गुरु के प्रसाद से सजग होकर स्व-पर की रक्षा में तत्पर आज के रत्न मुनि! इस आनन्द-दायक परिवर्तन से नागौरी जनता प्रमुदित हो उठी।

इस अद्भुत परिवर्तन से आपकी माता की प्रसन्नता का पार न रहा। उनकी आत्मा कहने लगी—"मेरा 'रत्न' सचमुच रत्न निकला।"

एक विनोद

मुनि रत्नचन्द्रजी म० ने प्रथम चातुर्मास मुनि श्री दुर्गादासजी म० की सेवा में किया। इसके पश्चात् सम्वत् १८५८ तक आप पूज्य श्री गुमानचन्द्र जी म० की सेवा में ही रहे। इन वर्षों में आपको जन्म जन्मान्तर में सञ्चित की हुई पुण्य कला वसन्त काल की माधवी लता-सी विकास पा रही थी। इन वर्षों में ही आपकी प्रसिद्धि दूर दूर तक हो गई। आपके गुणों का सौरभ सर्वत्र महक उठा।

इस बात को लेकर गुरु-शिष्य में स्वाभाविक विनोद हुआ करता था। पूज्य श्री फर्माते–"रतन ! हम तो अब तुम्हारे ही नाम से पहचाने जाते हैं। लोग 'रत्नचन्द्र जी के साधु' इस नाम से ही हमें जल्दी पहचान लेते हैं !"

आप स्वाभाविक लज्जा से नम्र होकर कहते–"सब गुरुदेव की कृपा है।"
इस पवित्र विनोद में कितना माधुर्य और स्नेह भरा है। उक्त विनोद से यह बात स्पष्ट झलकती है कि आपकी कीर्ति लता आरम्भ से ही लहराने लगी थी।

अनुपम उदारता

पूज्य श्री गुमानचन्द्र जी म० के स्वर्गवास हो जाने के पश्चात पूज्य पद के लिए विचार हुआ। सब संतों और श्रावकों की दृष्टि आप पर ही पडी। आपकी प्रतिभा, विद्वता और गुण राशि को देखते हुए आप ही गच्छ का निर्वाह करने में समर्थ प्रतीत हुए। अतएव वय और दीक्षा से स्थविर मुनि श्री दुर्गादासजी म० ने आपसे पूज्य पद स्वीकार करने का आग्रह किया।

इस पर आपने कहा कि–इस समय आप ही दीक्षा और वय से स्थविर हैं अतएव आप ही इस पद के अधिकारी हैं।

स्थविर मुनि श्री दुर्गादासजी म० ने कहा–तुम्हारी प्रतिभा, विद्वता और शासन को दीपाने की योग्यता देखकर मेरी अन्तरात्मा की यह प्रेरणा है कि मैं स्वयं पूज्य पद न लेकर तुम्हें ही इस पद पर आसीन करूँ ताकि शासन की प्रभावना विशेष रूप से हो सके।

मुनि श्री रत्नचन्द्र जी म० ने उत्तर दिया–आप जैसे अनुभवी और वयोवृद्ध की उपस्थिति में पूज्य पद को स्वीकार करने की धृष्टता मुझ में नहीं हो सकती। कृपया मुझे क्षमा करें और आप ही इस पद को सुशोभित करें।

इस प्रकार दोनों महापुरुष एक दूसरे को पूज्य पद स्वीकार करने का आग्रह करते रहे। इस प्रसंग पर राम और भरत के उस आदर्श दृष्य की सहज स्मृति आये बिना नहीं रहती, जिसमें राम भरत पर और भरत राम पर गेंद की तरह राज्य-लक्ष्मी को उछाल रहे हैं !!

स्थविर मुनि श्री दुर्गादासजी म० का अत्यन्त आग्रह होते हुए भी रत्नचन्द्रजी म० ने गुरुजनों के प्रति भक्ति का बाहुल्य होने से पूज्य पद स्वीकार नहीं किया। इसी तरह मुनि श्री दुर्गादासजी म० ने भी मुनि श्री रत्नचन्द्रजी म०

की विशेष योग्यता और गुणानुराग के कारण पूज्य पद अंगीकार नहीं किया।
आखिर पूज्य श्री गुमानचन्द्र जी म० के स्वर्गारोहण-सम्वत् १८५८ से लेकर मुनि
श्री दुर्गादास जी म० की मौजूदगी पर्यन्त (संवत् १८८२ तक) चौबीस वर्ष तक
पूज्य का पद अनियत रूप में ही रहा। मुनि श्री रत्नचन्द्र जी म० मुनि श्री दुर्गा-
दासजी म० को पूज्य कहते और मुनि श्री दुर्गादासजी म० मुनि श्री रतनचन्द्रजी
म० को पूज्य कहते। कितनी महान उदारता! कैसा अनूठा आदर्श!! गुरुजनों
के प्रति विनय का कितना अनुपम उदाहरण! गुरुजनों में गुणग्राहकता की कैसी
उदार भावना!!

कहां तो इन मुनिराजों के द्वारा आचरित और अनुमोदित यह आदर्श और
कहां आज के मुनियों में पूज्य पद प्राप्त करने की लालसा? कहां तो २४
वर्ष पर्यन्त सम्प्रदाय का योग्यता पूर्वक संचालन करते हुए भी पदवी प्रलोभन से
विमुख बना रहना और कहां पूज्य गुरुवर्य के रहते हुए भी शिष्यों का पूज्य पद
के लिए लालायित रहना?

इस पूज्य पदवी को लेकर समाज के सामने आज कैसे कैसे विकट प्रश्न
उपस्थित हो रहे हैं? समस्त साधुमार्गी समाज को किस प्रकार कटुता का अनुभव
करना पड रहा है यह सर्व विदित ही है। मोह, ममता, लालच और अभिमान
को दूर हटाने में ही मुनिता है अगर मुनि होने पर भी उच्च पद की लालसा
बनी रही, राग द्वेष को आश्रय मिलता ही रहा, अभिमान का अभिनय होता ही
रहा और टट्टी की ओट में शिकार जारी ही रही तो यह साधुता के लिए कलंक
की बात है। आजकल के मुनियों को ऐसे विनयशीलता के उदाहरणों से शिक्षा लेने
की आवश्यकता है।

सद्‌गुणों का आदर्श उपस्थित करने वाले उदाहरण शताब्दियों पर शताब्दियां
बीत जाने पर भी नहीं भुलाये जा सकते। वे उदाहरण युग युग तक मानव-समाज
को प्रेरणा देने के लिए हमेशा नवीन बने रहते हैं। सद्‌गुणों की अमर कीर्ति को
काल का व्यवधान मिटा नहीं सकता। शताब्दियों से अधिक काल का व्यवधान
हो जाने पर भी ऐसे विनयशील और गुणग्राही मुनियों के प्रति भक्ति से मस्तक
झुक ही जाता है।

चातुर्मास विवरण

मुनि श्री रत्नचन्द्रजी म० ने सं० १८४८ में दीक्षा धारण करने के पश्चात्
संवत् १८५८ तक के चातुर्मास अपने गुरुदेव के समीप रह कर ही पूर्ण किये।

इन प्रारम्भिक वर्षों में आपने ज्ञान और संयम की समुचित आराधना की। इसके पश्चात् सं० १८५९ से आपके स्वतन्त्र चातुर्मास होने लगे।

सम्वत १८५९ का चातुर्मास आपने पाली में किया। यहां आपके उपदेशों से खूब धर्म-प्रभावना हुई। श्री लालचन्दजी ने वैराग्यभाव से मुनि श्री के पास दीक्षा धारण की।

१८६०-६१ और ६२ के चातुर्मास क्रमशः पीपाड, मेडता, और पाली में हुए। इस चातुर्मास के पश्चात जब मुनि श्री शेषकाल में 'वर' ग्राम में विराजमान थे तब नागौर निवासी हमीरमलजी ने अपनी माता के साथ सं० १९६२ फाल्गुन कृष्णा ७ को अमृत वेला में दीक्षा धारण की।

सम्वत् १८६३ का चातुर्मास पीपाड के पास रीयां में ठाणा ३ से हुआ।
सम्वत् १८६४ में आपने ठाणा ४ से रायपुर में चातुर्मास किया।
सं० १८६५ में जोधपुर नगर में ठाणा ४ से आपका चातुर्मास हुआ।
सं० १८६६ में पाली नगर में ठाणा ३ से आपका चातुर्मास हुआ।
सं० १८६७ में कारण विशेष से पुनः जोधपुर में ठाणा ५ से चातुर्मास हुआ। इस चातुर्मास में श्री माणकचन्दजी की आपके समीप दीक्षा हुई।

सं० १८६८ का चातुर्मास भी जोधपुर ही हुआ। इस चातुर्मास में श्री दौलतरामजी, सवाईरामजी, पीरचन्दजी और धीरचन्दजी इन चार व्यक्तियों ने तीव्र वैराग्य से प्रेरित होकर आपके पास भागवती दीक्षा धारण की।

सं० १८६९ में मुनि श्री का चातुर्मास नागौर में ठाणा ४ से हुआ। इस चातुर्मास में धनजी, कनजी, मनजी और पनजी इन चारों की दीक्षा हुई।

सं० १८७० में पाली में ठाणा ६ से चातुर्मास हुआ। इस चातुर्मास में अमचन्दजी की दीक्षा हुई।

सं० १८७१ में अजमेर में ठाणा ७ से आपका चातुर्मास हुआ। इस चातुर्मास में मुकुन्दजी और वागजी की दीक्षा हुई।

सं० १८७२ का चातुर्मास जोधपुर में ठाणा ७ से हुआ।
सं० १८७३ में ठाणा ६ से कृष्णगढ में आपने चातुर्मास किया।
सं० १८७४ में पाली नगर में ठाणा ६ से आपने चातुर्मास किया। इस चातुर्मास में फौजमलजी की दीक्षा हुई।

सं० १८७५ में नागौर में ठाणा ६ से चातुर्मास हुआ।
सं० १८७६ में जोधपुर में ठाणा ६ से चातुर्मास हुआ।

सं० १८७७ में मेडता में ठाणा ६ से चातुर्मास हुआ ।

सं १८७८ में नागौर में ठाणा ७ से चातुर्मास किया । इस चातुर्मास में सीतारामजी की दीक्षा हुई ।

सं० १८७९ में जोधपुर में ठाणा ११ से चातुर्मास हुआ ।

सं १८८० का चातुर्मास पाली में ठाणा ६ से हुआ ।

सं० १८८१ का चातुर्मास ठाणा ५ से अजमेर में हुआ ।

सं० १८८२ का चातुर्मास जोधपुर में ठाणा ११ से हुआ। इस चातुर्मास में स्थविर मुनि श्री दुर्गादासजी म० का श्रावन शुक्ला एकादशी के दिन आठ पहर के चौविहार संथारे से ७६ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास हो गया । स्थविर मुनि श्री दुर्गादासजी म० का जन्म संवत् १८०६ में मारवाड प्रान्त के अन्तर्गत सालडिया नामक ग्राम में हुआ था । आपके पिता का नाम शिवराजजी और माता का नाम 'सेवादे' था । आपने परम वैराग्य भावना से प्रेरित होकर सं० १८२१ में मुनि श्री कुशलदासजी महाराज के पास ऊँटाले में दीक्षा धारण की थी । आप पूज्य श्री गुमानचन्द्र जी महाराज के छोटे गुरु भ्राता थे । आपने बहुत समय तक एकान्तर तप की साधना की ।

यह पहले लिखा जा चुका है कि पूज्य श्री गुमानचन्द्र जी म० के स्वर्गवास हो जाने के पश्चात मुनि श्री दुर्गादासजी म० की गुणग्राहकता और मुनि श्री रत्नचन्द्र जी महाराज की विनयशीलता के कारण पूज्य पद अनियत ही रहे । ऐसा होते हुए भी मुनि श्री दुर्गादासजी म० ही पूज्य रूप से प्रसिद्ध थे । यद्यपि पूज्य श्री दुर्गादासजी म० की पूज्य पदवी का विधिवत् समारोह नहीं किया गया था तदपि सम्प्रदाय के मान्य मुनिराजों की मान्यता और आपकी पूज्य पदोचित योग्यता से पूज्य श्री गुमानचन्द्र जी म० के बाद आप ही पूज्य माने गये ।

पूज्यपद-समारोह

पूज्य श्री दुर्गादासजी म० की मौजूदगी में मुनि श्री रत्नचंद्र जी म० ने पूज्य पद स्वीकार नहीं किया किन्तु उनके प्रतिनिधि रूप में आपने सम्प्रदाय का संरक्षण संवर्धन और संचालन करते हुए शासन को दीपाया । जब स्थविर मुनि श्री दुर्गादासजी म० का स्वर्गवास हो गया तब चतुर्विध श्रीसंघ की अत्यन्त आग्रह भरी प्रार्थना को आप ठुकरा न सके । आपने संघ के आदेशानुसार पूज्य पदवी ग्रहण करना स्वीकार किया ।

संवत् १८८२ मार्गशीर्ष शुक्ला त्रयोदशी को शुभ लग्न में चतुर्विध संघ की भक्तियुक्त प्रेरणा से मुनि श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने आचार्यपद को सुशोभित किया । श्री संघ ने अति समारोह के साथ पदवी-प्रदान महोत्सव मनाया ।

आचार्य पद पर आरूढ होने के बाद पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी म० ने अपनी जिम्मेदारी का बड़ी कुशलता और सावधानी के साथ पालन किया। आपने अपने शासन-काल में सम्प्रदाय की विशेष उन्नति की और जिन-शासन की महिमा को चार चांद लगाये।

आपने आचार्य पद पर विराजमान होने के बाद प्रथम चातुर्मास (सं १८८३) नागौर में ठाणा ९ के साथ किया। नागौर निवासियों ने अपने यहीं के एक समय के बालक का आज आचार्य के रूप में स्वागत कर अपने आपको धन्य माना। आचार्य रत्नचन्द्र जी म०ने अपने उदाहरण से जनता के समक्ष यह आदर्श उपस्थित किया कि मानव आपने जीवन का विकास किस प्रकार कर सकता है।

संवत् १८८४ से १८८७ तक के चातुर्मास क्रमशः चार, सात, चार और पांच ठाणा से यथाक्रम पाली, जोधपुर, महामन्दिर और किशनगढ में हुए। संवत् १८८७ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को किशनगढ निवासी श्री गुलाबचन्दजी और श्री कजोडीमलजी ने आचार्य श्री के पास दीक्षा धारण की। ये कजोडीमलजी म० वही हैं जो आगे चल कर आचार्य श्री तृतीय पाट पर पूज्य हुए। आपका विशेष परिचय आगे लिखा जावेगा।

आचार्य श्री का सं० १८८८ का चातुर्मास ठाणा ९ से नागौर में हुआ। सम्वत् १८८९ का चातुर्मास अजमेर में हुआ। इस वर्ष श्रीयुत् नथमलजी आचार्य श्री की सेवा में दीक्षित हुए।

सम्वत् १८९० का चातुर्मास ठाणा ९ से जोधपुर में हुआ। इस वर्ष श्री गम्भीरमलजी और श्री नगराजजी ने आचार्य श्री के पास दीक्षा धारण की। सं० १८९१ का चातुर्मास ठाणा ८ से पाली में हुआ।

आचार्य श्री का सं० १८९२ का चातुर्मास जयपुर में हुआ। इस चातुर्मास में लश्कर निवासी दौलतरामजी की ओर से २१ प्रश्नों की प्रश्नावली पूज्य श्री की सेवा में आई। पूज्य श्री ने उन प्रश्नों का यथोचित समाधान किया। इस बात का विस्तृत वर्णन 'आचार्य श्री की सैद्धान्तिक विचारधारा' इस शीर्षक के नीचे दिया जावेगा।

सं० १८९३ का चातुर्मास ठाणा ९ से नागौर में हुआ। इस वर्ष श्रीयुत जीवराजजी ने आचार्य श्री के पास दीक्षा धारण की। सं० १८९४ का चातुर्मास ठाणा ६ से अजमेर मे हुआ। इस साल श्रीयुत् नन्दराम जी ने दीक्षा धारण की।

सं० १८९५ में आचार्य श्री ने ठाणा ८ से जोधपुर में चातुर्मास किया। इस वर्ष श्री मेघराजजी, बुधमलजी, तिलोकचन्दजी और हिम्मतराम जी ने भागवती दीक्षा अंगीकार की। संवत् १८९६ में पीपाड ग्राम में ठाणा ४ से चातुर्मास हुआ। इस वर्ष श्रीयुत् गोविन्दरामजी ने दीक्षा धारण की। सं० १८९७-९८ और १८९९ के चातुर्मास क्रमशः नागौर, पाली और जोधपुर में ठाणा आठ, आठ और सात से हुए।

सम्वत् १९०० में बडलू से नागौर पधारते हुए गारासनी गांव मे आचार्य श्री के शरीर में असाता उत्पन्न हो गई। इसलिए विहार रुक गया। व्याधि उत्तरोत्तर बढने लगी। पूज्य श्री की अस्वस्था के समाचार समीपवर्ती क्षेत्रों में पहुँचे। खबर पाते ही बहुत से श्रावक दर्शनार्थ आ पहुँचे। बीमारी के कारण पूज्य श्री अत्यन्त अशक्त हो गये। विहार करने की शक्ति उनमें न रही। योग्य उपचार के लिए वहां से अन्यत्र जाना आवश्यक था अतएव पुनः बडलू जाने का निश्चय किया। पूज्य श्री में विहार करने की शक्ति न देखकर सुयोग्य सन्तों ने डोली में बिठाकर उन्हें बडलू ले जाने की व्यवस्था की।

(१) मुनि श्री हमीरमलजी म०, (२) मुनि श्री कजोडीमलजी म०, (३) मुनि श्री मनीरामजी म० (४) मुनि श्री गुलाबचन्दजी म० (५) मुनि श्री गम्भीरमलजी म० और (६) मुनि श्री हिम्मतरामजी म० इन छः सन्तों ने डोली उठाई। मुनि श्री दौलतरामजी म०, मुनि श्री पनजी म० और मुनि श्री धनजी म० इन तीन सन्तों ने वस्त्र, पात्र आदि उपकरण उठाये। साथ में श्रद्धालु श्रावकों का समुदाय भी था। बडलू पधारने पर योग्य उपचार हुआ और पूज्य श्री ने स्वास्थ्य लाभ प्राप्त किया। इससे चतुर्विध श्री संघ को अपार हर्ष हुआ। सम्वत् १९०० का चातुर्मास बडलू में ही हुआ। सम्वत् १९०१ का चातुर्मास ठाणा ९ से नागौर में हुआ। आचार्य श्री का यही अन्तिम चातुर्मास था।

इस प्रकार पूज्य श्री ने अर्धशताब्दी पर्यन्त अपने ज्ञान और संयम की अखण्ड ज्योति के द्वारा समाज में धर्म का प्रकाश फैलाया। साधुमार्गी समाज के अभ्युत्थान के इतिहास में आचार्य श्री का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

तत्कालीन परिस्थिति और क्रियोद्धारः—

इस काल में पूर्व प्रचलित पोतिया बंध परम्परा का प्रायः अन्त सा हो गया था वैसे यह परम्परा तत्कालीन अन्य परम्पराओं की अपेक्षा आचार विचार में आगे बढी हुई थी तदपि यह परम्परा इस काल में संशय का

अभाव समझती और मानती थी। पूज्य श्री धर्मदास जी म०, श्री धन्नाजी म०, भी किसी समय इस परम्परा के मानने वाले थे किन्तु बाद में उक्त सभी महापुरुषों ने इस परम्परा का विरोध किया। भगवती सूत्र में इक्कीस हजार वर्ष तक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के शासन चलने का उल्लेख विद्यमान है। इस प्रबल प्रमाण के आधार से पोतियाबन्ध परंपरा की संयम के अभाव की मान्यता का विरोध किया गया और धीरे धीरे इस परम्परा का अन्त हो गया तथा निर्ग्रन्थ परम्परा का अभ्युदय होने लगा था।

समय पाकर आत्मबल की दुर्बलता ने निर्ग्रन्थ परम्परा पर भी अपना अधिकार जमाया। निर्ग्रन्थ भी सदोष मार्ग का आश्रय लेने लगे थे। पूर्व गुरुओं की अपेक्षा अकिञ्चन गुरुओं को पाकर भावुक जन सहज ही अधिक श्रद्धा रखते थे। भक्ति वश श्रद्धालु भावुक जनों ने साधु साध्वियों के नाम पर धर्म स्थान बनाने और अर्पण करने आरम्भ किये। मुनि जन भी अपने नाम के उपाश्रयों में रहने और व्यक्तिगत रूप से भण्डारियों पर अपने ताले लगाने लगे थे। अपना अपना स्वतंत्र पुस्तक पात्रादि का संग्रह रखने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ चली थी। अमुक मुनियों के आने पर ही अमुक उपाश्रय खुल सकता था। इस प्रकार तक की अवस्था हो गई थी। नामान्तर से मठ और मठाधीशों की सी दशा हो चली थी। स्थान-मोह के अतिरिक्त चेले चेलियों का मोल लेना अपने ही पास दीक्षा लेने का नियम कराना, साध्वियों से अधिक सम्पर्क रखना इत्यादि विकार भी श्रमण वर्ग में आगये थे।

एक तरफ तेरह पन्थ का उदय और दूसरी तरफ अपने श्रमण वर्ग में आये हुए विकार पूज्य श्री को शासन के हित में बाधक दिखाई दिये। उनकी आत्मा में इस प्रवृत्ति को रोकने की प्रबल भावना जाग उठी। श्रमण वर्ग में बढ़ती हुई प्रवृत्तियों को देख कर तथा उससे होने वाली भावी अनर्थ परम्परा का विचार कर उनकी आत्मा कांप उठी। अतएव उन्होंने शासन के कल्याण के लिए, चाहे जितने कष्ट और मुसीबतों का सामना करके भी उन अनिष्ट प्रवृत्तियों के विरुद्ध आवाज उठाने का दृढ़ संकल्प कर लिया। आपने प्रवृत्तियों का प्रतिवाद किया। मठवास की तरह स्थान-मोह को इन बुराइयों का कारण जान कर आपने स्थानकों में ठहरने का निषेध किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा करने से आपको कई मुसीबतों का सामना करना पड़ा। कई बार आपको हाट, मन्दिर और छत्रियों में ही रहना पड़ता था। आपने इन कष्टों की तनिक भी पर्वाह न की और स्थान-मोह का विरोध किया।

प्रचलित रीति रिवाज के विरुद्ध आवाज उठाने से प्रतिकूल और विरोधी वातावरण हो जाना स्वाभाविक ही है। प्रत्येक सुधारक और क्रान्ति कारक को ऐसे विरोधों का सामना करना पड़ता है। सच्चा सुधारक इन विरोधों और कष्टों का शान्ति और धैर्य से सामना करता हुआ अपना कार्य करता रहता है और अन्ततः वह अपने कार्य में सफलता प्राप्त करता है। पूज्य श्री ने भी शांति एवं धैर्य से विरोध का सामना किया और अपने संकल्प पर दृढ़ता से डटे रहे।

पूज्य श्री ने अपने समय के श्रमण वर्ग को शिक्षा देने के लिए उपदेश-छत्तीसी, आचार छत्तीसी आदि पद्यों की रचना की। इन पद्यों में आपने अपने हृदय का खूब दर्द जाहिर किया। इन पद्यों को पढ़ने से यह भली भांति प्रतीत हो जाता है कि तत्कालीन श्रमण वर्ग की विकृति से आपको कितनी अन्तर्वेदना होती थी।

सच्चे सुधारक की तरह पूज्य श्री ने उस स्थिति के संशोधन के लिए भरसक प्रयत्न किये और अन्ततः आप अपने उद्देश्य में फलीभूत हुए।

पूज्य श्री के अनन्य भक्त प्रभावक श्रावकः—

सुप्रसिद्ध कवि 'हरि औधजी' लिखते हैं:—

प्रसून यों ही न मिलिन्द-वृन्द को,
विमोहता औ' करता प्रलुब्ध है।
वरंच प्यारा उसका सुगन्ध ही,
उसे बनाता वह प्रीति-पात्र है ॥'

यह कथन सोलह आना सत्य है। दुनियां में कोई भी व्यक्ति किसी की ओर अकारण आकृष्ट नहीं होता। भ्रमर गण फूलों पर मंडराया करते हैं। वे सहज ही फूलों की ओर आकर्षित नहीं होते किन्तु फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध और उनका सौन्दर्य ही भ्रमरों को अपनी ओर आकर्षित करता है। पूज्य श्री के जीवन रूपी पुष्प का सौरभ वायु मण्डल में व्याप्त हो गया। उस सुहावने और मन-भावने सौरभ से मुग्ध होकर अगणित भक्त भ्रमर पूज्य श्री के चरण-कमलों के उपासक हो गये थे।

जोधपुर के प्रधान मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्रजी मूथा भी पूज्य श्री के उन भक्तों में एक अनन्य भक्त थे। पूज्य श्री के त्याग, तपश्चर्या, विद्वत्ता और सहिष्णुता आदि सद्गुणों को देखकर आप बहुत ही प्रभावित हुए। आपने अपने हृदय मन्दिर में पूज्य श्री को गुरु-देव के रूप में विराजमान किये। पूज्य श्री के सदुपदेशों से ही आपको दयामय जैन धर्म पर दृढ श्रद्धा हुई थी। आप में धार्मिकता और

गुरु भक्ति इतनी तीव्र और दृढ थी कि राज्य-कार्यो की अधिकता होने पर भी आप समय समय पर पूज्य श्री के दर्शन और व्याख्यान श्रवण का लाभ लेते ही रहते थे ।

मारवाड राज्य के प्रधान पद पर विराजमान होने से आपको वैष्णव आदि अन्य धर्माचार्यो की संगति, संलाप, और धर्मचर्चा आदि के अवसर प्रायः मिलते ही रहते थे । इससे अन्य धर्मो के मर्म भी आप भली भांति जानते थे । आपने सब धर्मो का स्वरूप समझने के बाद ही अपनी विवेक बुद्धि के द्वारा परीक्षा करके पूज्य श्री के समीप शुद्ध जैन धर्म स्वीकार किया था । महाकवि कालिदास की उक्ति है:--

"सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते, तयोर्द्वयोरेकतरं महाति'

अर्थात सज्जन पुरुष अपनी विवेक बुद्धि के द्वारा परीक्षा करने के पश्चात ही किसी का आश्रय लेते हैं ।

मूथा जी जैसे कुशल जौहरी ने आचार्य 'रत्न' की महिमा समझी और ऐसे अनमोल 'रत्न' को गुरु के रूप में पाकर अपने आपको कृतकृत्य माना ।

उस समय महाराजश्री तख्तसिंहजी जोधपुर के शासक थे । उन्होंने मूथाजी की योग्यता देख कर ही उन्हें अपना प्रधान मन्त्री बनाया था। मूथा जी मारवाड के परम प्रतिभाशाली दीवान थे । आपकी शासन-कुशलता बडी अनोखी थी । उच्च पद प्राप्त कर लेना एक बात है और उसे योग्यता पूर्वक संचालित करना दूसरी बात है । इतिहास में ऐसे भी प्रमाण विद्यमान है कि शासक अदनी सी बात से प्रसन्न होकर अयोग्य व्यक्ति को भी उच्च पद पर आसीन कर देते थे । मूथाजी के सम्बन्ध में यह बात नहीं थी । वे कुशल राजनीतिज्ञ और कर्तव्य परायण प्रधान थे ।

राजनीति में अनेक विकट प्रसंग भी आया करते है । योगीराज भर्तृहरि ने अपने मानसिक सात शल्यों की गणना में राजा के समीप दुर्जनों के निवास की भी शल्य के रूप में गणना की है । यह शल्य कैसा भयंकर होता है यह भुक्त भोगी ही जानते है । राजपुरुषों के लिए गजारोहण और शूलारोहण दोनों प्रकार के प्रसंग उपस्थित होने में देर नहीं लगती ।

शासन-व्यवस्था में विभिन्न प्रकृति के पुरुष हुआ करते हैं । तदनुसार मूथाजी की उत्तरोत्तर बढती हुई उन्नति को देख कर ईर्षा करने वाले व्यक्तियों की भी कमी न थी । ऐसे ईर्षालु व्यक्ति आपके विरुद्ध परोक्ष रूप से कई प्रकार के जाले बिछाते रहते, पक्षपात का आरोप करते, प्रमाद, लापरवाही और लालच

का द्वेष सहते एवं छिद्रान्वेषण की ताक में रहते थे। ऐसा होते हुए भी किसी की दाल न गल सकी। उस समय के प्रत्यक्षदर्शी लोग कहते थे कि सत्यधर्म में सच्ची श्रद्धा होने के कारण आपकी सदा विजय ही होती रही।

मूथा जी भी अपनी उत्तरोत्तर होने वाली प्रगति को धर्म और गुरुदेव का प्रताप ही समझते थे।

महाराजा तख्तसिंहजी सा० अपने दीवान मूथाजी की धर्म परायणता से परिचित थे। समय समय पर गुप्तचरों द्वारा भी आपकी धार्मिक प्रवृत्ति के समाचार महाराजा सा० को मिला करते थे। एक बार अनुचरों ने आपसे निवेदन किया कि "अन्नदाता! दीवान साहब दोनों समय एकान्त में बैठकर 'एगिंदियाणं बेइन्दियाणं' आदि न जाने क्या गिना करते हैं। वह न तो गीता ही मालूम होती है और न भागवत ही!" यह बात सुनकर महाराजा सा० को भी आपके धार्मिक जीवन को जानने की इच्छा जागृत हो गई। आखिर एक दिन महाराजा सा० ने आपको यह पूछ ही लिया। आपने महाराजा सा० को प्रतिक्रमण का स्वरूप बड़ी ही सुन्दर शैली से समझाया। उसे सुनकर महाराजा सा० को बड़ा सन्तोष हुआ और वे विचारने लगे कि जो व्यक्ति एकेन्द्रिय आदि सूक्ष्म जन्तुओं को अपने द्वारा होने वाली पीडा के लिए भी पश्चाताप प्रकट करता है उस व्यक्ति के द्वारा मानव जैसे प्राणी का अपकार कैसे हो सकता है? वास्तव में जैन धर्म बड़ा उदार धर्म है। इसमें प्राणी-मात्र के प्रति प्रेम परायणता भरी हुई है। अहिंसा-धर्म का कट्टरता से पालन करने का उपदेश देने वाला धर्म जैन धर्म ही है। इस प्रकार के विचार से मरुधराधीश्वर का भी जैन धर्म के प्रति अन्तरंग अनुराग हो गया था। इस बात को उस समय की कई घटित घटनाएं साबित करती हैं।

किसी समय दीवान मूथाजी महाराजा सा० के साथ दौरे पर गये हुए थे। दीवान सा० को रात्रि-भोजन के त्याग थे। एक दिन सूर्यास्त के कुछ समय पूर्व आपका रसोइया थाल परोसकर आपके पास ला रहा था। उस समय आप दरबार के साथ वार्तालाप कर रहे थे। दरबार की दृष्टि उस पर पड़ी और उन्होंने पूछा कि यह क्या है? रसोइया ने उत्तर दिया "अन्नदाता! दीवान साहब के लिए भोजन लाया हूँ। वे रात में भोजन नहीं करते।" दरबार ने दीवान जी से विनोद करते हुए कहा:—मूथाजी "मैं तो भोजन की खोज में भटकता हूँ और तुम्हें खुद भोजन ही खोजता फिरता है!"।

इस पर मुथा जी ने प्रसंगोचित उत्तर दिया—सरकार! यह सारा ही प्रभाव दयाधर्म का है जिससे आपके समान उदार प्रभावशाली प्रभु पाया हूँ और इसी सुयोग से भोजन भी मुझे खोज रहा है।

यह सुनकर दरवार बहुत ही प्रसन्न हुए। उन पर दीवान जी की धर्म-परायणता का यथेष्ट प्रभाव पडा।

राज्य के कार्यों का गुरुतर भार होते हुए भी मूथा जी अपने दैनिक धार्मिक कार्यों में किसी प्रकार की अनियमितता न आने देते थे। वे धार्मिक कृत्यों को सबसे अधिक महत्व देते थे। व्रत और प्रत्याख्यानों से वे अपने जीवन की शोभा समझते थे। आजकल के कतिपय नवयुवक व्रत और प्रत्याख्यानों को अंगीकार करने में लज्जा का अनुभव करते हैं। वे शायद इसके द्वारा होने वाले मित्र मण्डली के उपहास की आशंका से डरते हैं। किन्तु यह उनकी कमजोरी है सच्चा जैन श्रावक इतना बलवान होता है कि वह दूसरों के प्रवाह में नहीं बहता अपितु दूसरों को अपने प्रभाव से प्रभावित करता है। व्रतनिष्ठ प्रधान मन्त्री मूथाजी इस बात के ज्वलंत उदाहरण हैं।

सम्वत् १९०१ का चातुर्मास नागौर में व्यतीत कर पूज्य श्री धर्मोद्योत करते हुए पीपाड के पास रिया पधारे थे। जब मूथाजी को यह समाचार विदित हुए तो उन्होंने दरवार से 'रिया' जाने की अनुमति मांगी। महाराजा श्री के कारण पूछने पर आपने फरमाया कि—ज्ञान दर्शन और चरित्र के धनी हमारे धर्म-गुरु पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी महाराज इस समय रिया गांव को पावन कर रहे हैं। उनके दर्शनों से अपने आपको पवित्र बनाने के लिए मैं भी वहां जाना चाहता हूँ। दरवार श्री ने प्रसन्नता पूर्वक अनुमति प्रदान की।

मूथा जी ने रिया में आकर अपने पूज्य गुरुदेव के दर्शन कर अपने नेत्रों को पावन किए और उनकी सुधोपम वाणी के श्रवण से अपने कान पवित्र किये। तत्पश्चात पूज्य श्री से जोधपुर को अपने चरण विन्यास से अलंकृत करने की प्रार्थना की। न केवल सामान्य प्रार्थना ही अपितु जोरदार आग्रह किया। पूज्यश्री ने साधुजनोचित संयत भाषा में विनती स्वीकार की और विहार करते हुए चैत्र कृष्णा सप्तमी शील-सप्तमी को जोधपुर पधारे।

पूज्य श्री के जोधपुर पधार जाने पर दीवान सा० ने आपकी कल्पोचित सेवा शुश्रूषा करके अपनी गुरु-भक्ति का परिचय दिया। प्रभावक पूज्य श्री और प्रभावक दीवान श्री ने जोधपुर में शासन को दीपाने वाले अनेक कार्य किये।

दीवान मूथाजी ने पूज्य श्री जैसे गुरु को पाकर अपना जीवन सफल बनाया। अपने आदर्श कार्यों के द्वारा आपने अपना और अपने गुरुदेव का नाम अमर बनाया।

मूथा जी के परिवार में महता चांदमलजी और सुमेर चन्दजी के सुपुत्र महावीर चन्दजी आज भी जोधपुर में विद्यमान हैं।

कतिपय संस्मरण

राजगुरु से भेंट और काव्य विनोद

आचार्य श्री में त्याग व तप की तेजस्विता एवं प्रकाण्ड पाण्डित्य और वक्तृत्व शक्ति के साथ ही साथ काव्य-रचना की भी अनुपम शक्ति विद्यमान थी। ऐसी विविध-मुखी प्रतिभा विरले में ही दृष्टिगोचर होती है। संसार में त्यागियों की कमी नहीं, पण्डितों का अभाव नहीं, वक्ताओं और कवियों की भी विरलता नहीं लेकिन एक व्यक्ति में इन सब शक्तियों का होना आश्चर्यजनक नहीं तो असाधारण तो अवश्य है।

आचार्य श्री की काव्य-कला बडी उच्च कोटि की थी। आपकी रचनाओं में माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण की अधिकता रहती थी। धर्माचार्य होने के कारण आपकी रचनाओं में धार्मिक-उपदेश, नैतिक शिक्षण और जीवन सुधार की सामग्री विशेष रूप से पाई जाती है।

पूज्य श्री की काव्य-कला के कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

(१) राग-काफी

एक आश भली जिनवर की--------

छांड कृपानिध करगा सागर, कुंण करे आश अवर की ॥१॥
अमृत छोड विषय जल पीवे, जाकि अकल हिया की सरकी।
टुकभर महर हुवे जिनजी की,पदवी देत अमर की ॥२॥ एक०
शूकर कूकर टुक के कारण, सेरी तके घर घर की।
पेट भरे न मिटे मन तृष्णा, अन्तर लाय फिकर की ॥३॥ एक०
कुण पति मात पिता सुत जोरु, किनके लडका लडकी।
जमके द्वार तणा अगवाणी, तूं खोल हिया की खिडकी ॥४॥
कृपा महर करी मुझ ऊपर, निज सम्पत् आकरखी (के वरकी)
रतनचन्द आनन्द भयो अब, चाह घटी पुद्गल की ॥५॥ एक०

(२) राग-विहंग

भेषधर यूं ही जन्म गमायो २ टेर

लंछण स्याल सांग धरि सिंहको, खत लोक को खायो ॥भेष० १॥
धार कर कपट निपट चतुराई, आसन सुदृढ जमायो।

अन्तर भोग योग की बतियां, 　　बगध्यानी छल छायो ॥भेष०२॥
कर नर नार निपट निजरागी, 　　दया धर्म मुख गायो ।
सावज्ज धर्म सपाप परूपी, 　　जग सगलो बहकायो ॥३॥भे०॥
वस्त्र पात्र आहार थानक में , 　　सवलो दोष लगायो ।
सन्त दशा विन सन्त कहाई , 　　ओ कांई कर्म कमायो ॥४॥भे०
हाथ सुमरणी हिये कतरणी , 　　लटपट होंठ हिलायो
जपतप संयम आतम गुण विन, 　　जाणे गाडर सीस मुंडायो ॥५॥भे०
आगम वयण अनूपम सुणने , 　　दया धर्म दिल भायो ।
रतनचन्द्र आनन्द भयो अब , 　　आतम राम रमायो ॥६॥भे०

उपरोक्त कविताओं में वैराग्य, उपदेश और जीवन सुधार की कैसी अनुपम सामग्री है । आपकी कविताओं में वही तत्व हैं जो भक्तवर तुलसी दास और कबीर की कविताओं में पाये जाते हैं । तत्कालीन परिस्थिति के चित्रण एवं उसमें आये हुए विकारों को दूर करने के लिए पूज्य श्री ने अपनी काव्य-कला का उपयोग किया है । उक्त पद्यों से यह भली भांति विदित हो जाता है कि पूज्य श्री अपने हृदय के भावों को कितनी सुन्दर शैली से व्यक्त करने में सफल हुए ह । इस प्रकार कवि के रूप में भी आचार्य श्री की ख्याति खूब हो चुकी थी ।

जोधपुर के राजगुरु लाडूनाथ जी भी काव्य कला के बड़े अनुरागी थे । महामन्दिर आदि गांवों के शासक होने पर भी आप जैसे मत में पक्के थे । आपके पास उस समय शासन प्रवन्ध के लिए लाडनू की हवेली वाले कांकरिया कामदार पद पर नियुक्त थे । जब आपने आचार्य श्री के त्याग पूर्ण जीवन और कवित्व शक्ति की प्रशंसा सुनी तो आपकी इच्छा हुई कि पूज्य श्री के दर्शन और समागम का लाभ लिया जाय । काव्य-रसिकों को काव्य- सुधा के रसा-स्वादन में जो आनन्द प्राप्त होता है वह अन्यत्र कहां है ? राजगुरजी की इच्छा प्रबल हो गई वे आचार्य श्री के समागम के लिए उत्कण्ठित हो गए ।

'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहु, सो तिहि मिलत न कछु संदेहु' इस उक्ति के अनुसार लाडूनाथजीको भी पूज्य श्री के समागम का अवसर प्राप्त हो ही गया । पूज्य श्री उनकी इच्छा को समझकर एक दिन स्थानीय बगीचे में से होकर स्थंडिल भूमि के लिए पधारे उस समय राजगुरु लाडूनाथ जी भी वहां पहुंच गये थे । पीछे आते पूज्य श्री ने कुछ समय के लिए वहां छतरी में विराजमान होकर राज-गुरु को प्रासंगिक धर्मोपदेश दिया । तत्पश्चात् बहुत समय तक दोनों का काव्य विनोद होता रहा । उक्ति है कि—

'काव्य-शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'

अर्थात बुद्धिमान पुरुषों का समय काव्य शास्त्र के विनोद में व्यतीत होता है।

अन्त में पूज्य श्री की अनुपम काव्य-शक्ति से राजगुरुजी बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने कहा–"आप श्री के दर्शन और समागम की चिरकाल से अभिलाषा थी वह आज पूर्ण हुई है। आपकी काव्य-सुधा का आस्वादन कर मैं तृप्त हुआ हूँ आपकी इस कृपा के लिए मैं आभारी हूँ। आपकी विद्वता, काव्यकला और तपोमय जीवन की मुझपर गहरी छाप पड़ी है। आपकी ओर मेरा हृदय श्रद्धा से झुक जाता है।"

इस प्रकार आचार्य देव के प्रति अपना आदर भाव व्यक्त करके राजगुरु लाडूनाथजी अपने स्थान के लिए विदा हुए।

(२) कीर्ति–निस्पृहता

राजगुरु लाडूनाथजी ने किसी प्रसंग पर जोधपुर नरेश महाराजा मानसिंहजी के समक्ष पूज्य श्री की प्रशंसा करते हुए कहा–"जैन साधु श्री रत्नचन्द्रजी जैसे विद्वान् और त्यागी महात्मा आजतक मेरे देखने में नहीं आये। आपको भी ऐसे सत्पुरुषों के दर्शन करने चाहिए?"

राजगुरुजी आचार्य श्री के समागम से कितने अधिक प्रभावित हुए इस बात की झांकी उनके उक्त कथन पर से सहज ही झलक जाती है। राजगुरुजी के हृदय में जिनके प्रति इतना सम्मान हो वहां उनके भक्त मानसिंह जी का झुकना तो साधारण बात है।

महाराज मानसिंहजी ने पूज्य श्री की सेवा में जाने के लिए तय्यारी करने का अधिकारियों को आदेश दिया। तदनुसार जहां पूज्य श्री विराजमान थे वहां पर भी बिछायत होने लगी। पूज्य श्री ने विशिष्ट तय्यारी देख कर पूछा तो मालूम हुआ कि–जोधपुर नरेश महाराजा मानसिंहजी आपके दर्शन के लिए पधार रहे हैं।

यह सुनकर पूज्य श्री ने कहा–"भाई! डोकरी के घर में नाहर को कंई काम?" ऐसा कह कर पूज्य श्री विहार * कर गये?

---

* दूसरी ओर ऐसी श्रुति परम्परा है कि राजा मानसिंह जी ने पूज्य श्री की प्रशंसा के साथ यह भी सुना कि उनके पास एक तपस्वी है जो वचनसिद्ध है। जब तपस्वी के दर्शनार्थ आप पूज्य श्री की सेवा मे आने वाले थे तो पूज्य श्री ने तपस्वी जी को विहार करा दिया।

यह है आचार्य श्री की कीर्ति-निस्पृहता। कहां तो आचार्य श्री की यह निस्पृहता और कहां अपने मिथ्या गौरव को प्रदर्शन करने के लिए राजा-महाराजा और ठाकुरों को अपने दर्शन के लिए या व्याख्यान सुनने के लिए बुलवाने की आजकल के मुनियों की प्रेरणा? समय और मानसिक स्थिति का परिवर्तन आश्चर्यकारी है जैन साधुओं की निस्पृहता और जीवन का परिचय देते हुए मानसिंहजी ने कहा है—

"काहू की न आश राखे, काहू पै न दीन भाखे, करत प्रणाम जाकूं राजा राणा जेवडा।
सोधी सी आरोगे रोटी, बैठा बात करे मोटी, ओढण नें जांरे झीणासा पछेवड़ा॥
धन २ कहे लोक, कबहू न राखे शोक. वाजत मृदग चंग जमी मांहि जो बडा।
कहे नृप मानसिंह दुखी तो जगत सब सुखी एक सेवडा॥"

राजा महाराजा या नरेशों के आज की परिस्थिति में राष्ट्रपति या प्रधान कहना चाहिए उनके व्याख्यान में आ जाने से अपनी महिमा समझना संयमियों के लिए दुर्बलता की निशानी है। "जहा तुच्छस्स कत्थई तहा पुण्णस्स कत्थई, जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ" यह संयमियों के उपदेश दान का आदर्श होना चाहिए।

शास्त्र में कहा है कि–'नोलोगस्सेसणं चरे, अर्थात मुनि लोकैषणा के पीछे नहीं चले क्योंकि लोकैषणा और कीर्ति-कामना पर विजय पाना आत्मोन्नति के पथिकों और त्यागी अनगारों के लिए आवश्यक है। पूज्य श्री की यह कीर्ति निस्पृहता वर्तमान श्रमण संघ के लिए आदर्श है।

(२) प्रसंगोचित–गम्भीरता

कतिपय पुष्करणा ब्राह्मणों ने पूज्य श्री की क्षमाशीलता की प्रशंसा सुन रक्खी थी। उन्होंने कालान्तर में पूज्य श्री की क्षमाशीलता की परीक्षा लेने का विचार किया। एक दिन मार्ग में जाते समय प्रातः काल उनकी पूज्य श्री से भेंट हो गई। झट वे लोग बोल उठे–"अरे! गजब हुआ, आज तो बिलकुल सवेरे ही ढूंढिया महाराज के दर्शन हो गये; दुर्गति में जाना पडेगा।"

यह सुनकर पूज्य श्री ने अनोखी शान्ति के साथ फरमाया–भैया! तुम्हारे कथनानुसार हमारी स्वर्गगति और तुम्हारी नरक गति दोनों नहीं टलेगी। तुम्हारे मत से ब्राह्मण का दर्शन स्वर्ग का कारण है, तो हमें तुम ब्राह्मणों के दर्शन

हुए अतएव हमारा तो स्वर्ग निश्चित हो चुका और तुम्हें हमारे दर्शन हुए अतएव तुम्हारे ही मत से तुम्हारी दुर्गति निश्चित हो चुकी न ?

भाइयो ! वास्तव में सुगति या दुर्गति भावों पर अवलम्बित है, वह किसी के दर्शन मात्र से नहीं हुआ करती । द्वेष और आरम्भ-कषायों को त्यागने से सद्गति होती है । और इन्हें नहीं त्यागने से दुर्गति होती है ।

नहि तापयितुं शक्यः सागरोम्भस्तृणोल्कया' इस सूक्त के अनुसार शान्त और गम्भीर हृदय से पूज्य श्री का यह उत्तर सुनकर वे लोग लज्जित हो गए और अपने अविनय-अपराध के लिए क्षमा याचना करने लगे । पूज्य श्री की क्षमा और सहनशीलता की तारीफ करते हुए वे अपने मार्ग पर चले गए ।

यह है पूज्य श्री की व्यावहारिक कुशलता और क्षमाशीलता का आदर्श नमूना । प्रायः ऐसे प्रसंगों पर साधारण व्यक्ति अपने दिमाग के संतुलन को खो बैठते हैं । महापुरुषों में यह कमजोरी प्रायः नहीं होती । वे अच्छे और बुरे शब्दों को समान भाव से सुनते हैं । पूज्य श्री के इस आदर्श से गम्भीरता की शिक्षा मिलती है ।

(४) योग्य समाधान

एक समय पर्व के प्रसंग में बहुत सी स्त्रियां आचार्य श्री के दर्शन करने के लिए आईं । प्रायः बहनें जब घर से बाहर निकलती हैं तो सज-धज के साथ जाया-आया करती हैं । इसी प्रकार पूज्य श्री की सेवा में दर्शनों के लिए आई हुई बहनें भी विविध प्रकार की वेष-भूषा से सज्जित थीं । उस समय किसी आगन्तुक भाई ने पूज्य श्री से पूछा—महाराज ! ये सब स्त्रियां सुन्दर से सुन्दर साज सज कर आपके पास आती हैं तो इन्हें देखकर आपके मन में विकार नहीं पैदा होता होगा ? क्योंकि कहा भी है—

पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा, दृष्ट्वा योषिद्यौवनम् ।
त्रीणि रत्नानि दृष्ट्वैव कस्य नो चलते मनः ? ॥

अर्थात फूल, फल और स्त्रियों के यौवन रूप तीन रत्नों को देखकर किसका मन चलायमान नहीं होता ?

पूज्य श्री ने इस प्रश्न का योग्य समाधान करने के लिए उस भाई से कहा—भाई ! रक्षा बन्धन के दिन तुम्हारी बहन-बेटियां सुन्दर श्रृंगार सजकर हँसती

हुई तुम्हारे हाथ में राखी बांधती हैं। क्या उन बहन-बेटियों पर तुम्हारा मन बिगड़ता है ?

वह भाई बोला—नहीं।

पूज्य श्री ने फरमाया—जिस प्रकार उन बहन-बेटियों को देखकर तुम्हारे मन में विकार-भाव जागृत नहीं होते उसी तरह हम भी दुनिया की सब स्त्रियों को अपनी बहन-बेटियां समझते हैं अतएव हमारे मन में किसी प्रकार का विकार पैदा नहीं हो सकता।

जिस व्यक्ति ने अपनी आत्मा के सौन्दर्य का अनुभव कर लिया हो उसे स्त्रियों का सौन्दर्य तो क्या देवांगनाओं का सौन्दर्य भी विचलित नहीं कर सकता। तुमने जो प्रश्नात्मक श्लोक कहा है उसका उत्तर यह है:—

पिता यस्य शुचिर्भूतो माता यस्य पतिव्रता।
उभाभ्यां यः समुत्पन्नस्तस्य नो चलते मनः॥

अर्थात जिसके माता पिता सदाचारी हैं और जो दोनों की शुद्ध सन्तान है, उसका मन स्त्रियों को देखकर चलित नहीं होता।

दूसरी बात हम लोगों का आहार विहार और ज्ञान पूर्वक तपस्या का आराधन इस प्रकार का है कि विकार को जागृत होने का अवसर ही नहीं मिलता।

वस्तुतः विकार बाह्य पदार्थों में नहीं होता लेकिन वह प्राणी की राग द्वेषात्मक प्रवृत्ति में हुआ करता है। बाह्य पदार्थ तो निमित्त मात्र है। यही कारण है कि एक ही पदार्थ भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों के कारण भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न विचार पैदा करने वाला होता है। अतएव रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति और परिणति को त्यागने का उपदेश दिया जाता है।

इन्द्रियां अपने अपने उपस्थित विषय को ग्रहण करती हैं इसमें कोई दोष नहीं है किन्तु उनके द्वारा ग्रहण किए हुए विषयों में राग और द्वेष करना दोष का कारण है। आंखें अगर देखती हैं तो इसमें उनका दोष नहीं है किन्तु उनके द्वारा ग्रहण किये हुए रूप में राग और द्वेष की भावना लाना दोष का कारण है। जो देखने की इच्छा से रूप को देखने पर होती है। मुनिजन स्त्रियों के रूप को देखने की भावना से नहीं देखते, और सहसा दिखजाने पर भी उसमें आसक्ति नहीं करते क्योंकि वे स्त्रीमात्र को बहन की बुद्धि से देखते हैं। इस कारण उनमें किसी प्रकार का विकार नहीं पैदा होता।

पूज्य श्री के इस समाधान को सुनकर उस भाई को बड़ा संतोष हुआ। उसकी शंका का योग्य समाधान हो गया

समकालीन क्रियोद्धारक

जिस प्रकार मारवाड़ प्रान्त में पूज्य श्री गुमानचन्द्र जी म० और पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी म० ने साधु-समुदाय में (आए हुए शैथिल्य) शिथिलता का निवारण करने के लिए क्रियोद्धार किया उसी तरह आपके बाद मालवा प्रान्त में पूज्य श्री हुक्मीचन्द्रजी म० ने भी क्रियोद्धार किया था।

पूज्य हुक्मीचन्द जी म० दीक्षित होने के पूर्व 'टोडा (रायसिंह) के निवासी थे। आपने १८७९ में पूज्य श्री लालचन्दजी म० के पास दीक्षा धारण की। आप बड़े तपस्वी और क्रियापात्र थे। तीस वर्ष तक निरन्तर आप बेले २ तप करते रहे। आपको साधु-समुदाय समाज में आई हुई कमजोरियों को देखकर दुख होता था। इसलिए आपने क्रिया-आचार विचार में सुधार करने का संकल्प किया था। अपने दृढ संकल्प के अनुसार आप क्रियोद्धार करने में सफल हुए।

जब से आपने क्रियोद्धार किया तब से आपका साथ देने वाला साधु-समुदाय आपके नाम से विख्यात हुआ। वर्तमान पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी म० की सम्प्रदाय-के आप मूल प्रवर्तक थे।

संवत् १९१७ वैशाख शुक्ला पञ्चमी को 'जावद' नगर में आपका स्वर्ग वास हुआ।

पूज्य श्री की–अन्तिम यात्रा

पहले लिखा जा चुका है कि दीवान नथाजी की प्रार्थना से पूज्य श्री ने जोधपुर पधारने की रींया में स्वीकृति फरमादी। तदनुसार संवत् १९०१ चैत्र कृष्णा सप्तमी को पूज्य श्री जोधपुर पधारे। वहां पोकरण के ठाकुर सा० की हवेली में सिंहपोल के रामदेव पायगां में विराजे। आप प्रतिदिन अपनी पवित्र वाणी रूपी सुधा का धर्मपिपासु जनता को पान कराते रहे। संयोग-वश पूज्य श्री के शरीर में दाह-ज्वर की व्याधि उत्पन्न हो गई। फिर भी पूज्य श्री आत्मा और देह के विनश्वर संयोग का विचार करते हुए शान्ति के साथ वेदना सहन करते थे। व्यवहार साधन के लिए योग्य उपचार भी चल रहा था। पूज्य श्री उस रुग्ण अवस्था में भी अपनी मानसिक दृढ़ता के कारण प्रातः काल और रात्रि के

समय धर्मोपदेश प्रदान करते थे। बीमारी के कारण पूज्य श्री को यहीं विराजना पडा। अपने जीवन के अन्तिम तीन मास पूज्य श्री नें जोधपुर में ही विताये।

ज्येष्ठ शुक्ला (सं० १९०२) एकादशी को पूज्य श्री ने उपवास किया। दूसरे दिन पारणे नें बहुत स्वल्प आहार किया। ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को पूज्य श्री ने व्याख्यान फरमाया व्याख्यान में बहुत से श्रावक आवे थे उस समय भंडारी हजारीमलजी से अष्टांग सधाया। दोपहर के बाद दीवान लक्ष्मीचन्दजी मूथा भण्डारी सिरीचन्दजी तथा रघुनाथ शाह आदि पूज्य श्री के दर्शनों के लिए पधारे, उस दिन अन्तिम प्रहर में आहार करते हुए पूज्य श्री को कै हुई और रात्रि में वेदना अधिक हो गई। मुनि श्री हम्मीरमलजी म० रात भर जाग कर पूज्य श्री की सेवा करते रहे। त्रयोदशी के दिन प्रातःकाल वेदना और भी अधिक बढ गई। सैंकडों श्रावक पूज्य श्री की सेवा में आ गये। वैद्यजी ने कस्तूरी लवंग की मात्रा दी। मुनि श्री हम्मीरमलजी म० ने उस दिन व्याख्यान फरमाया।

सांयकाल मे प्रतिक्रमण करते समय पूज्य श्री की शारीरिक कमजोरी देख कर सावधानी के लिए पूज्य श्री की सेवा में ४० श्रावक ओर दो वैद्य मौजूद रहे प्रतिक्रमण के बाद उत्तरोत्तर कमजोरी बढती देखकर पूज्य श्री ने संथारा करने की इच्छा व्यक्त की। पूज्य श्री को इच्छा के अनुसार श्री संघ की सम्मति से उन्हें (सागारी) संथारा कराया गया।

यद्यपि पूज्य श्री को शारीरिक तीव्र पीडा थी तदपि आत्मबल की दृढता के कारण पूज्य श्री अग्लान भाव से सब सहते रहे। उनके मुखमण्डल पर अनुपम शान्ति झलक रही थी। रात के समय मुनि श्री हम्मीरमलजी म० समय सार नाटक और शास्त्रों की गाथाये सुनाते रहे। मुनि श्री हम्मीरमलजी म० आदि का पद बोलते और शेष तीन पद पूज्य श्री स्वयं पूरे करते रहे। कितनी दृढता! और कैसा अनोखा आत्मबल!

पूज्य श्री का शरीर प्रतिक्षण क्षीण हो रहा था किन्तु उनकी आत्मा उत्तरोत्तर बलवती बनती जा रही थी। जीवन के इन अन्तिम क्षणों में भी उनके मुख-मण्डल पर आत्मीय-तेज की झांकी झलक रही थी। ग्लानि का नाम निशान भी न था।

पूज्य श्री ने अपना अन्तिम समय जानकर उपयोग पूर्वक सबसे क्षमा याचना की। क्षमा का आदान-प्रदान करके पूज्य श्री ने मुनि श्री हम्मीरमलजी म० के

समक्ष पूर्ण आलोचना की। क्षमापना और आलोचना से उन्होंने अपने आपको अत्यन्त निर्मल बना लिया।

पूज्य श्री की बढती हुई अस्वस्थता और संथारा का समाचार सुनकर प्रातः काल हजारों नरनारी पूज्य श्री के दर्शन पाने के लिए एकत्रित हो गए। उस समय पूज्य श्री की निर्मल आत्मा की ज्योति उनके मुख पर प्रतिविम्वित हो रही थी। पूज्य श्री ने पूर्ण संथारा करने की इच्छा व्यक्ति की किन्तु श्री संघ की सम्मति न होने से उस समय चौविहार संथारा नहीं कराया गया। तत्पश्चात् दीवान मूथाजी और दश वैद्य भी आ गये। पूज्य श्री की गम्भीर स्थिति को देखकर चतुर्विध श्रीसंघ की सम्मति से प्रहर दिन चढ जाने के समय पूज्य श्री को अश्रुपूर्ण नयनों से मुनि श्री हमीरमलजी म० ने पूर्ण संथारा करवा दिया।

पूज्य श्री पञ्चपरमेष्ठी के ध्यान में लवलीन रहे। अन्ततः उसी मध्यान्ह में पूज्य श्री का आत्मा रूपी हंस स्वर्गरूपी मानसरोवर की ओर उड गया।

पूज्य श्री के स्वर्गवास के समाचार बिजली के वेग की तरह सर्वत्र फैल गए। सब ओर शोक के बादल छा गए। पूज्य श्री की यह सदा की विदाई हृदय में चुभ रही थी। सबका हृदय रो रहा था। सबके मुखों पर विषाद की गहरी छाया अंकित हो रही थी। सबकी मुख मुद्रा पर ऐसी उदासीनता थी मानो उनकी अनुपम निधि-छीन ली गई हो।

सचमुच सकल जैन समाज इस अनमोल 'रत्न' के छिन जाने से अपने आपको दीन-हीन अनुभव करने लगा। हजारों नरनारी पूज्य श्री की छवि के अन्तिम दर्शन करने के लिए आने लगे।

अन्तिम दर्शन और श्मशान यात्रा

प्राण-विसर्जन के समय भी पूज्य श्री का मुख मण्डल अनुपम शान्ति से शोभायमान था। उस शान्त मुद्रा को देखने के लिए हजारों नर नारियों का समुह एकत्रित हुआ था। श्रद्धालु नर नारी उस सौम्य मुद्रा के दर्शन कर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहे थे – पूज्य श्री की वह शान्त और सौम्य मुख मुद्रा सबके नयनों में समा गई।

पूज्य श्री का शव एक सुन्दर विमान में रखा गया। जो कि ४१ खण्ड का मंडी के रूप से तय्यार करवाया गया था। उसमें ४१ चांदी के कलश और ४१ ही स्वर्ण के तुर्रे लगाये गये थे। चौदह सौ रुपयों की कीमत का सुन्दर तास

(ओढना) महामन्दिर से मंगवाया गया। उसे और भी सुन्दर ढंग से जर से सजाया गया। और शव के ऊपर बहुमूल्य पशमीने की काश्मीरी शाल ओढाई गई। पूज्य श्री के शव को उस विमान में रख कर श्मशान की ओर ले जाया गया। उस समय हजारों नर नारी श्मशान यात्रा में सम्मिलित हुए थे। मार्ग में उछाला करने के लिए एक व्यक्ति ऊँट पर बैठाया गया। वह मुट्ठी भर भर कर रुपए उछालता था। सोने और चांदी के फूल भी उछाले गए।

श्मशान में पहुँचने पर घी चन्दन, खोपरा कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यों से पूज्य श्री के शव का अग्नि-संस्कार किया गया। सूथा लक्ष्मीचन्दजी सा० ने शव संस्कार महोत्सव अति उमंग के साथ किया। १५ मन चन्दन चिता में जलाया गया। इस प्रकार जोधपुर के संघ ने अपनी अत्यन्त गाढ भक्ति का परिचय देते हुए दाह संस्कार की लौकिक क्रिया पूर्ण की। चिता जब पूज्य श्री के देह को जलाकर शान्त होने लगी तब आकाश से अचानक वर्षा हो पडी। मारवाड में ज्येष्ठ मास में वर्षा प्रायः नहीं होती। किन्तु उस समय वर्षा हुई मानो इस बहाने प्रकृति ने भी अपना शोक प्रदर्शित किया। वर्षा के बहाने प्रकृति ने आंसू बहाकर उस महापुरुष के अवसान पर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

पूज्य श्री के अवसान से जैन समाज ने अनमोल रत्न खोया। ऐसी महान विभूतियों का आविर्भाव और तिरोभाव सचमुच जगत के प्रसाद और विषाद का कारण होता है।

पूज्य श्री का जीवन भी आदर्श था और उनकी मृत्यु भी आदर्श। ऐसे पुरुष मर कर भी सदा के लिए अमर हो जाते हैं।

आचार्य श्री की सैद्धान्तिक विचारधारा

पूज्य श्री जैनागमों के तल-स्पर्शी ज्ञाता थे। आपका आगमिक ज्ञान उच्च कोटि का था। जैन सिद्धान्तों का आपने मनन पूर्वक गहन अध्ययन किया था। न केवल अध्ययन ही अपितु चिन्तन, मनन और निदिध्यासन के द्वारा आपने आगमों का मर्म भली भांति समझ लिया था। आपके उपदेशों में भी शास्त्रीय विषयों का विवेचन मुख्य रूप से हुआ करता था। आपकी विषय प्रतिपादन शैली बडी अनुपम थी। कठिन से कठिन विषय को भी आप ऐसे ढंग से प्रतिपादित करते कि वह सरलता से सर्वसाधारण की समझ में आ जाता था। इन सब विशेषताओं के कारण तत्कालीन साधुमार्गी समाज के आगम मर्मज्ञों की श्रेणी में आपका बहुत ऊँचा स्थान था।

आगम वेत्ता के रूप म आपकी ख्याति समस्त जैन समाज में फैल गई थी। इस प्रसिद्धि के कारण दूर दूर के क्षेत्रों से भी जिज्ञासुजन अपनी शंकाए आप श्री की सेवा में रखते थे और आप उनका यथोचित समाधान करते थे।

पूज्य श्री के जीवन काल में शास्त्र-चर्चा और प्रश्नोत्तर के अनेक प्रसंग आए ह। ग्रन्थ विस्तार के भय से उन सब प्रसंगों का वर्णन न करके जिज्ञासु पाठकों और विशेषतया आगम रसिकों के उपयोग के लिए कतिपय प्रश्नोत्तरों का ही यहां उल्लेख किया जाता है। इन प्रश्नोत्तरों से यह भलीभांति विदित हो जाता है कि पूज्य श्री का आगमिक ज्ञान कितना उच्च कोटि का था।

सम्वत् १८९२ में पुज्य श्री जयपुर में विराजमान थे। आपके ओजस्वी प्रवचनों द्वारा दयाधर्म का खूब प्रचार हो रहा था। जयपुर की जैन जैनेतर जनता के समक्ष पूज्य श्री जैन धर्म की विशेषताओं का विशद वर्णन कर रहे थे। जैन धर्म की विश्व धर्म बनने की क्षमता, जैन सिद्धान्तों के पालन से संसार का कल्याण, जैन धर्म का कर्म सिद्धान्त, जैन धर्म का स्याद्वाद, जैन धर्म का तत्वज्ञान आदि विषयों का सुन्दर प्रतिपादन करते हुए पूज्य श्री जिन शासन का प्रद्योत कर रहे थे। पूज्य श्री के उपदेशों से जन समुदाय में धर्म भावना उमड रही थी। अनेक व्यक्ति नास्तिकता को तिलाञ्जलि देकर धर्मानुरागी बन रहे थे। पूज्य श्री के द्वारा होने वाले उपकारों की महिमा भारत-भर में फैल रही थी।

इसी चातुर्मास काल में लश्कर निवासी श्रीमान् दौलतरामजी की ओर से २१ प्रश्नों की प्रश्नावली पूज्य श्री की सेवा में पहूँची। वे प्रश्न और पूज्य श्री द्वारा दिये गये उत्तर इस प्रकार हैं:—

(१) प्रश्न—आप नन्दी सूत्र को मानते हैं। उस से ८४ सूत्रों के नाम हैं। फिर आप बत्तीस सूत्रों को ही क्यों मानते हैं?

उत्तर:—नन्दी सूत्र में ७२ तथा ७३ (नन्दी सूत्र को लेकर) सूत्रों के नाम हैं। उनमें से कितने ही सूत्रों का विच्छेद हो गया है। पांच सूत्रों के नाम व्यवहार सूत्र में मिलते हैं। पूर्वोक्त बहत्तर की संख्या में इनको संकलित करने से ७७ हुए। फिर स्थानांग सूत्र में दस सूत्रों का उल्लेख है। उनमें से ६ सूत्र तो वे ही हैं जो पूर्वोक्त ७७ में आ चुके हैं। शेष चार विशेष हैं उन्हें पूर्वोक्त ७७ में संकलित करने से ८१ हुए। तथा नन्दी सूत्र को मिलाने से आगमों की कुल संख्या ८२ बयासी होती है। आचार्य परम्परा से सूत्रों की संख्या ८४ कही जाती है परन्तु शेष दो के नामों का उल्लेख किसी सूत्र में नहीं मिलता है।

इन सूत्रों में से जो सूत्र गणधर कृत हैं उन्हें हम प्रमाण रूप मानते हैं। जो सूत्र आचार्यों द्वारा नवीन रचे गये हैं वे हमारे लिए पूर्ण प्रमाण-भूत नहीं हैं। हम उन्हीं सूत्रों को प्रामाणिक मानते हैं जो गणधर कृत हैं या पूर्णतया तदनुकूल हैं। इसलिए गणधर रचित द्वादशांगी और तदनुकूल शास्त्र ही हमें मान्य हैं।

हमारे द्वारा माने हुए बत्तीस सूत्र मूलतः गणधर रचित हैं। यद्यपि यह कहा जाता है कि दशवैकालिक सूत्र के प्रणेता श्री शय्यंभवाचार्य, प्रज्ञापना सूत्र के रचयिता श्यामाचार्य तथा नंदी सूत्र के कर्त्ता श्री देव वाचक गणी हैं तदपि यह कथन औपचारिक है। वस्तुतः इनमें वर्णित विषय मूलतः गणधरों द्वारा ही ग्रथित किया हुआ है। इस दृष्टि से गणधर ही इनके मूल रचयिता हैं। ये आचार्य तो केवल इन सूत्रों के विषय-विभाग पूर्वक संकलन कर्त्ता या उद्धारक मात्र हैं।

ये पूर्वोक्त तीन आगम उन तीन आचार्यों की मौलिक रचनाएं या मनोकल्पित कृतियां नहीं हैं मगर द्वादशांगी में से संकलित गणधर ग्रथित वीतराग की वाणी रूप ही हैं। इन आचार्यों ने अपनी ओर से अपनी कल्पना से कुछ नहीं कहा। ये भवभीरू आचार्य द्वादशांगी से विपरीत एक शब्द भी कहना अनर्थ का कारण समझते थे। इसीलिए तो इन्होंने अपने संकलित शास्त्रों में भी जहां स्मृति न रही या आचार्यों में मतभेद हुए तो उनको उसी प्रकार पाठान्तर में अंकित कर दिये। इससे यह प्रतीत होता है कि उक्त आचार्य उक्त सूत्रों के मूल प्रणेता न होकर विषय विभाजन करने वाले और संकलन करने वाले हैं। इन तीनों सूत्रों की भाषण प्रणाली रीति-प्रवाह द्वादशांगी के अनुकूल ही है।

तात्पर्य यह है कि जो आगम द्वादशांगी के अनुकुल अर्थ के प्ररूपक हैं वे हमें मान्य हैं और जो इससे विपरीत एक अक्षर भी प्ररुपित करे वह हमारे लिए प्रमाण की कोटि में नहीं है। बत्तीस सूत्रों को ही प्रमाण रूप मानने का उक्त अभिप्राय है।

प्रश्न २—संवेगी सम्प्रदाय ४५ सूत्र मानता है और आप साधु मार्गी ३२ सूत्र मानते हैं इसका क्या कारण है?

उत्तर— इस प्रश्न का उत्तर भी प्रथम प्रश्न के उत्तर के अनुसार समझना चाहिए। अर्थात संवेगी सम्प्रदाय ३२ सूत्रों के अतिरिक्त जिन तेरह सूत्रों को अधिक मानते हैं वे द्वादशांगी के अनुकूल नहीं हैं और वे गणधर प्रणीत भी नहीं हैं।

उन तेरह सूत्रों में से (१) देवेन्द्र थुई (२) तन्दुल वेआलिय (३) गणि विज्जा (४) मरण विभत्ती (५) आउर पच्चक्खाण (६) महा पच्चक्खाण (७

महानीशीय इन सात सूत्रों के नाम नन्दी सूत्र में उपलब्ध होते हैं। शेष (१) चउ-सरण पइन्ना (२) भत्त पइन्ना (३) चन्दा विज्जयं * (४) संथार पइन्नक (५) जीतकप्प (६) पिण्डनिज्जुति इन छ सूत्रों के नाम तक किसी सूत्र में नहीं पाए जाते हैं ।

नन्दी सूत्र में जिन सात सूत्रों के नाम पाये जाते हैं उनके नाम मात्र मौलिक हैं । वर्तमान में जो इन इन नाम के सूत्र मिल रहे हैं वे वाद के आचार्यों की रचना मात्र हैं । उनमें वहुत सी वातें पूर्वापर विरुद्ध और द्वादशांगी के प्रति-कूल दृष्टिगोचर होती हैं अतएव वे सूत्र हमें मान्य नहीं हैं ।

महानिशीथ सूत्र की रचना अनेक (आठ) आचार्यों ने मिल कर की है। महानिशीथ सूत्र के अन्त में 'कुलियो (१) दोसो न दायव्वो' लिखा है। यह लिख कर इन आचार्यों ने अपनी जवावदारी हलकी की है । इससे विदित होता है कि वे आचार्य भी स्वयं इसकी पूर्ण सत्यता के विषय में शंकाशील थे । महानिशीथ सूत्र पर टीका, भाष्य, निर्युक्ति, टव्वा आदि कुछ भी नहीं है यह भी एक विचारणीय विषय है । द्वादशांगी के अनुकूल न होने से ही हमें ये तेरह सूत्र पूर्ण प्रमाणतया मान्य नहीं हैं ।

(३) प्रश्न—भगवती, नन्दी और अनुयोग द्वार सूत्र में यह गाथा पाई जाती है

सुत्तत्थो खलु पढमो वीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ ।
तइओ य निरवसेसो एस विही होइ अणुओगे ॥

इस गाथा से निर्युक्ति, टीका, अवचूर्णि आदि की प्रामाणिकता क्या नहीं सिद्ध होती है ?

उत्तर—इस गाथा से निर्युक्ति, टीका, अवचूर्णि भाष्य आदि की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता का कोई सम्वन्ध नहीं हैं । इस गाथा में तो अनुयोग-शास्त्र के पठन-पाठन की विधि वताई गई है । अनुयोग करते समय सर्व प्रथम सूत्र और अर्थ की शिक्षा देनी चाहिए, उसके वाद निर्युक्ति अर्थात उसका पूर्वापर सम्वन्ध वताते हुए विस्तृत स्पष्टीकरण करना चाहिए और इसके पश्चात इन तीनों की सम्मिलित व्याख्या करनी चाहिए । यही इस गाथा में कहा गया है।

* नन्दी सूत्र में 'चन्दाविज्जयं' नाम आता है, किन्तु वह इससे भिन्न है।

इस गाथा पर से मूर्ति पूजक ग्रन्थ टीका, निर्युक्ति, भाष्य अवचूर्णि आदि को तीर्थंकर की उपस्थिति के समकालीन निरूपण करते हैं लेकिन यह कथन युक्ति-युक्त नहीं है। इनकी रचनाओं का काल तीर्थंकर की कई शताब्दियों बाद का है। और इनकी रचनाएँ विभिन्न आचार्यों द्वारा की गई हैं। जो इतिहास में प्रसिद्ध है।

इन निर्युक्ति भाष्य और टीकादि में मूल आगमों से वहिर्भूत भी कई बातें दृष्टिगोचर होती हैं। मूल द्वादशांगी से विपरीत जाने वाली बातों को छोडकर शेष भाग की प्रामाणिकता में हमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। सारांश यह है कि जो पञ्चांगी मूल शास्त्र संगत है अर्थात जिसमें आगम के अर्थों का ज्यों का त्यों अनुगमन किया गया है वह अनगतार्थ होने से प्रामाणिक है, शेष अप्रामाणिक है। मूल प्रश्नोत्तर में टीका आदि के विरोधी प्रसंगों का भी उल्लेख किया गया है। जिज्ञासुओं को रत्नचन्द्र जीवन ज्योति देखनी चाहिए।

(४) प्रश्न—श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र के प्रथम संवर द्वार में दया माता के ६० नाम है, उनमें 'पूया' (पूजा) भी एक नाम है, तो फिर पूजा को आप अकर्त्तव्य कैसे मानते है ?

उत्तर—षट्काय के जीवों की रक्षा करना ही वास्तविक पूजा है। षट्काय के जीवों की हिंसा करके जो पूजा की जाती है वह दया की गणना में नहीं आ सकती है। दया के ६० नामों में यज्ञ और महोत्सव भी नाम के तौर पर गिनाये गये हैं, लेकिन यज्ञ और महोत्सव आदि में जो हिंसा होती है वह हिंसा ही कहलाती है, उसे कोई दया नहीं कहता। उत्तराध्ययन सूत्र में हरिकेशी मुनि ने यज्ञ का जो लक्षण बताया है वह युक्तियुक्त और प्रमाणोपेत है। जो इस प्रकार है:—

सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणा।
वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा, महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं॥
(उत्तराध्यय अ. १२. गा. ४२)

अर्थात पांच प्रकार के संवर से संवृत और असंयम जीवन की कांक्षा नहीं करने वाले, शरीर से ममत्व को हटा देने वाले व्यक्ति ही सर्वश्रेष्ठ यज्ञ का यजन करते हैं। इस प्रकार का यज्ञ ही वास्तविक यज्ञ है। ऐसा यज्ञ ही दया रूप है।

दया के नामों में दिया गया 'महोत्सव' शब्द उपमा वाची है। जिस प्रकार साधु को व्यापारी की उपमा दी जाती है परन्तु इससे साधु व्यापारी नहीं बन जाता है, इसी तरह दया सबके लिए आनन्ददायक होने से उसे महोत्सव कहा जा सकता

है। इसका अर्थ यह नहीं कि महोत्सवों में होने वाली हिंसा भी दया ही है। वस्तुतः दया ही यज्ञ है, दया ही महोत्सव है और दया ही पूजा है।

दया के साठ नामों में कितने ही नाम यौगिक हैं, कितने रूढ हैं और कितने योगरूढ हैं परन्तु प्राणियों को पीडा न पहुँचाना रूप मुख्य अर्थ सबमें ओतप्रोत है। इसलिए मुख्यतया इसी अर्थ को ध्यान में लेकर सब नामों की संगति समझनी चाहिए। षट्काय के जीवों की विराधना न करना ही पूजा है। यह पूजा कदापि अकर्त्तव्य रूप नहीं है। जिसमें षट्काय की विराधना होती हो वह पूजा अकर्त्तव्य रूप है। क्योंकि भगवान ने अहिंसा को पूजा कहा है, सावद्य पूजा को अहिंसा नहीं कहा गया अतएव पूजा अहिंसा का नाम है।

(५) प्रश्न—मूर्ति पूजक भाई मूर्ति की पूजा करते हैं, सचित्त जल, पुष्प, फल आदि चढाते हैं, दीपक-धूप लगाते हैं और इन क्रियाओं को शास्त्रसम्मत बताते हैं। आपका इस सम्बन्ध में क्या अभिप्राय है?

उत्तर—प्रश्न व्याकरण सूत्र के प्रथम आश्रव-द्वार में पृथ्वीकाय आदि षट्काय की हिंसा करने वालों को मन्द बुद्धि कहा गया है। 'पुढवि हिंसति मंदबुद्धिया' इसी प्रकार छ ही कायों के सम्बन्ध में कहा गया है। शास्त्रकारों ने हिंसा के कारणों को गिनाते हुए धर्म के निमित्त की जाने वाली हिंसा की भी गणना की है। जैसे "अट्ठा हणन्ति, धम्मा हणन्ति, कामा हणन्ति" अर्थात कई व्यक्ति विविध प्रयोजनों से षट्काय की हिंसा करते हैं, कई धर्म के लिए हिंसा करते हैं और कई काम के वश होकर हिंसा करते हैं। "जाइमरण मोयणाए" कई व्यक्ति जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए भी हिंसा करते हैं। हिंसा के कारणों को बताने के पश्चात सूत्रकार ने किसी भी निमित्त की जाने वाली हिंसा का परिणाम अत्यन्त अहितकर बताया है। सूत्रकार कहते हैं:—

तं से अहियाय, तं से अबोहिए।....एस खलु गंथे, एस खलु मारे एस खलु नरए.....

अर्थात—यह हिंसा अहित का कारण है। इस हिंसा से बोधि-सम्यक्त्व की प्राप्ति दुर्लभ है। यह हिंसा कर्म ग्रन्थि का कारण है। यह मृत्यु का कारण है और यह नरक में ले जाने वाली होने से नरक रूप है।

जब धर्म के निमित्त की जाने वाली हिंसा का भी अनिष्ट परिणाम बता कर सूत्रकार स्पष्ट शब्दों में उसका निषेध कर रहे हैं, तब फिर मूर्ति के नाम किया

जाने वाला आरम्भ शास्त्र सम्मत कैसे हो सकता है ? शास्त्रकार सूत्रकृतांग सूत्र के १८वें अध्ययन में स्पष्ट शब्दों में फरमा रहे हैं:–

"सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा...... ।

अर्थात—किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व की हिंसा न करनी चाहिए । सारांश यह है कि किसी भी निमित्त की जाने वाली हिंसा हिंसा ही है । यह अहित और अनिष्ट करने वाली है । हिंसा करना महापाप है। पाप रूप हिंसा से धर्म कदापि नहीं हो सकता । अतएव धर्मनिमित्त आरम्भ समारम्भ करना सूत्र विरुद्ध है । अहिंसा ही परम धर्म है और यही धर्म और मोक्ष का कारण है।

(६) प्रश्न—देवता देवलोक में जिन प्रतिमा की पूजा करते हैं जैसा कि विजयदेव और सूरियाभ देव के प्रकरण में आता है। इसका क्या समाधान है ?

उत्तर—जिस विमान में जो देव उत्पन्न होते हैं, वे चाहे सम्यग्दृष्टि हों या मिथ्यादृष्टि हों, भव्य हों अथवा अभव्य हों उन्हें जीत परम्परा प्राप्त व्यवहार के अनुसार तथा उस विमान की रीति-नीति के अनुकूल प्रत्येक कार्य करना पड़ता है । इसलिए उनका जिन-प्रतिमा-पूजन धर्म व्यवहार नहीं है । यदि केवल सम्यग्दृष्टि देवों के लिए धर्म व्यवहार रूप से प्रतिमा पूजन का विधि-विधान कहा जाय तो फिर अनुत्तर विमान वासी देव प्रतिमा पूजन क्यों नहीं करते ? अनुत्तर विमान वासी देव तो केवल सम्यग्दृष्टि ही होते हैं । उनके लिए प्रतिमा-पूजन का विधान कहीं नहीं मिलता ।

इससे ज्ञात होता है कि स्वर्ग में किया गया प्रतिमा पूजन का विधान सम्यक्त्विओं के लिए नहीं है । वह केवल स्वर्ग का आचार-दर्शक है । धर्मरूप से कहा जाने वाला व्यव-हार एकान्त सम्यक्तिओं के लिये भी होना चाहिए । भगवती सूत्र में कहा गया है कि नवग्रैवेयक तक सब जीव अनन्त वार उत्पन्न हो चुके हैं । इस कथन से देवलोक के देवों का सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार का होना सिद्ध ही है । आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति में संगम देव को अभव्य बताया है । साथ ही साथ इन्द्र को सामानिक देव भी कहा है।

सारांश यह है कि विमान के अधिपति देव का प्रतिमा-पूजन धार्मिक दृष्टि से नहीं है । वह केवल राज्य परम्परा की रीति मात्र है । उनका प्रतिमा-पूजन परलोक में कल्याण की दृष्टि से नहीं होता है । परम्परा से चली आने वाली प्रथा के अनुसार ही वे ऐसा करते हैं धर्म बुद्धि से नहीं ।

(७) प्रश्न—निक्षेपों का क्या स्वरूप है ? 'अरिहंत' के चार निक्षेपों में से कौन २ से निक्षेप वन्दनीय हैं ?

उत्तर—अनुयोग द्वार सूत्र में निम्न गाथा हैः—

जत्थयजं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं ।
जत्थय नो जाणिज्जा, चउक्कं निक्खिवे तत्थ ॥

अनुयोग द्वार सूत्र में चार निक्षेप बतलाये गये हैं । वे इस प्रकार हैंः— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । इन चार निक्षेपों में से जो भाव निक्षेप संयुक्त है वह वन्दनीय है । नाम, स्थापना, द्रव्य आदि निक्षेप वन्दनीय नहीं हैं । प्रमाण के लिए 'जिन' पद के चार निक्षेपों को बताने वाली एक गाथा इस प्रकार हैः—

नाम जिणा जिणनामा, ठवणजिणा जिणंद पडिमा ओ ।
दव्व जिणा जिण सरीरा, भावजिणा जिण अरिहंता ॥

इस गाथा में 'जिण' के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप का स्वरूप बताया गया है । "जिण" और "अरिहंत" समानार्थक शब्द है, इसलिए 'अरिहंत' के भी यही निक्षेप समझने चाहिए । उक्त गाथा का तात्पर्य यह हैः—

(१) नाम-जिनः—अर्हन्तों के नाम के समान जिन व्यक्तियों के नाम है वे नाम जिन (अर्हन्त) हैं । जैसे माता पिता अपनी सन्तान का ऋषभ, शान्ति, नमि, वर्द्धमान जिनरक्ष, जिनपाल आदि नामकरण करते हैं । ये नाम अर्हन्तों के नाम के समान होने से नाम-अर्हन्त के उदाहरण हैं । यह निक्षेप वन्दनीय नहीं है ।

(२) स्थापना जिनः—अर्हन्त भगवान के शरीर के समान किसी वस्तु का आकार बनाना स्थापना-जिन है । यह सद्भाव स्थापना है । जैसे काष्ठ, चित्र, स्तूप, तथा स्वर्ण, पाषाण और पीतल आदि के बने हुए आकार यह निक्षेप भी गुण-शून्य होने से वन्दनीय नहीं है । श्री मल्लीकुमारी ने ७ राजाओं को प्रतिबोध देने के लिए अपनी मूर्ति बनवाई थी । वह मूर्ति जिस प्रकार वन्दनीय नहीं हुई, इसी तरह स्थापना निक्षेप गुण हीन होने से वन्दनीय नहीं है । यही बात आगमों में वर्णित ऋषभ, वर्द्धमान, चन्द्रानन और वारिषेण नामक शाश्वत प्रतिमाओं के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए । ये सब गुण-शून्य होने से वन्दनीय नहीं हैं ।

(३) [illegible]-जिनः—द्रव्य जिन के पांच प्रकार हैंः—(१) ज्ञ शरीर द्रव्य जिन, [illegible] (३) लौकिक द्रव्य जिन, (४) कु—प्रावचनिक

[illegible] नहीं किया । श्री सूत्रकृतांग सूत्र [illegible] अध्ययन ११ [illegible]

अर्हन्त भगवान् के मोक्ष पधारने के बाद उनका शरीर ज्ञ-शरीर द्रव्य जिन है। जिस प्रकार एक वर्तन में घी था और इस समय नहीं है, फिर भी वह घी का वर्तन कहा जाता है इसी प्रकार अर्हन्तों का मृत-शरीर वर्तमान में अर्हन्तपन नहीं होने पर भी ज्ञ-शरीर द्रव्य जिन कहा जाता है।

गृहस्थाश्रम आदि में रहे हुए अर्हन्त, जिनमें अब तक अर्हन्त के गुण प्रकट नहीं हुए हैं, किन्तु भविष्य में होने वाले हैं, उन्हें भव्य शरीर द्रव्य जिन कहते हैं। जिस प्रकार जिस घडे में अब तक घी नहीं रखा गया है किन्तु आगे रखा जाने वाला है, वह घडा भी घी का घडा कहा जाता है। इसी तरह जिनमें भविष्य काल में अर्हन्त के गुण प्रकट होने वाले हैं वे भव्य शरीर द्रव्य जिन हैं।

जो बाह्य बैरियों पर विजय प्राप्त करते हैं वे लौकिक द्रव्य जिन हैं जैसे चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि।

केवल-ज्ञान और चौतीस अतिशय नहीं होने पर भी जो सर्व-ज्ञानी और अतिशय-धारी समझे जावें, वे कुप्रावचनिक द्रव्य जिन हैं, जैसे हरि-हर बुद्ध आदि

लोकोत्तर-द्रव्य जिन वे हैं, जो जिन-शासन में केवल ज्ञान न होने पर भी अर्हन्त कहलावें, जैसे गोशालक-आदि।

द्रव्य निक्षेप के उक्त पांचों प्रकार अवन्दनीय हैं।

(४) भावनिक्षेप—राग द्वेष आदि का सर्वथा क्षय करके केवल ज्ञान और चौंतीस अतिशय के धारक जिनेन्द्र देव भाव-जिन हैं, जैसे-चौबीस तीर्थंकर देव। उक्तचार निक्षेपों में से केवल भाव-निक्षेप वन्दनीय है।

(८) प्रश्न आठवां:—केवली का मार्ग स्याद्वाद-मय है; क्या उससे प्रतिमा पूजन की सिद्धि नहीं हो सकती है?

उत्तर—यह कथन स्याद्वाद के स्वरूप से अनभिज्ञ होना सूचित करता है। अपनी मनमानी बातों को सिद्ध करने के लिए स्याद्वाद की दुहाई देना सिद्धान्त स्वरूप को विकृत करना है। दो विरोधी बातों का कह देना मात्र स्याद्वाद नहीं है। इस अर्थ में स्याद्वाद का उपयोग करना इस सिद्धान्त के प्रति घोर अन्याय करना है। इस अर्थ में प्रयुक्त स्याद्वाद, स्याद्वाद नहीं किन्तु मतलव वाद है। तीर्थंकर प्ररुपित स्याद्वाद का सिद्धान्त उच्चकोटि का सत्य-सिद्धान्त है। बह संशयवाद [illegible] विपरीत वाद नहीं है। स्याद्वाद और सप्तभंगी का यथार्थ [illegible]

[illegible] है। इनका सच्चा स्वरूप [illegible]

(९) नौवां प्रश्नः-(अ) द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस जीव ने सम्यक्त्व सहित त्रिविध हिंसा का त्याग किया है, तथा जो उपयोग पूर्वक उसका पालन करता है फिर भी अज्ञानता से किसी जीव की हिंसा हो जाय तो वह हिंसा द्रव्य हिंसा है। इसके विपरीत जिस जीवने षट्काय की हिंसा न करने का नियम नहीं लिया है और जो सर्वदा आरम्भ समारम्भ करता रहता है, उसके द्वारा होने वाली हिंसा भाव हिंसा है। भगवती सूत्र में इस प्रकार निर्देश किया गया है। ।

(ब) प्रश्न—द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा के क्या फल हैं ?

उत्तर—भाव-हिंसा से जन्म-मरण की वृद्धि होती है। इस बात को सिद्ध करने वाले प्रश्न व्याकरण आदि अनेक सूत्र हैं। द्रव्य हिंसा भी व्यवहार नय की अपेक्षा से निषेध करने योग्य है। वह भी त्याज्य और निन्दास्पद है, प्रशंसनीय नहीं। किन्तु अशुद्ध भाव से रहित द्रव्य हिंसा कटुफलदायिनी नहीं होती जन्म मरण की वृद्धि अशुभ भाव सहित द्रव्य से हिंसा होती है।

(१०) दशवां प्रश्न—प्राणातिपात किसको कहते हैं ?

उत्तर—प्राणियों के प्राणों को नाश करना इसको प्राणातिपात कहते हैं। प्राणातिपात करने से अत्मा के साथ बन्धने वाले कर्म परमाणुओं को द्रव्य पाप कहते हैं। इसके लिए भगवती सूत्र का द्वितीय शतक प्रमाण है।

(११) ग्यारहवां प्रश्न—केवली और चतुर्थगुणस्थान वर्ती सम्यक्त्वी की श्रद्धा प्ररूपणा समान है या असमान ?

उत्तर—केवलियों का ज्ञान पूर्ण है, चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों का ज्ञान चतुर्थ गुणस्थान के अनुसार ही है। इस प्रकार भेद तो है ही किन्तु जिस, कार्य में केवली धर्म प्ररुपण करते हैं और श्रद्धान करते हैं उस विषय में चतुर्थ गुणस्थान वाले जीव भी धर्म का प्ररूपण और श्रद्धान करते हैं। इसी तरह केवली जिस बात में पाप प्ररूपण करते हैं और श्रद्धान करते हैं उस बात में चौथे-गुणस्थान वाले भी पाप प्ररूपण करते हैं और समझते हैं। केवली भगवान जिस बात में पाप फरमाये उसमें चौथे गुण स्थान वाले धर्म समझें यह कदापि नहीं हो सकता है।

(१२) बारहवां प्रश्न—क्षयोपशम सम्यक्त्व में किन २ प्रकृतियों का क्षय और किन किन का उपशम होता है ?

उत्तर—मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियां हैं। इनमें से २५ प्रकृतियाँ चारित्र मोहनीय की हैं और तीन प्रकृतियां दर्शन मोहनीय की हैं। सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय ये तीन प्रकृतियां आत्मा के दर्शन गुण को रोकने वाली हैं। इन तीन प्रकृतियों के क्षय और उपशम से देव, गुरु तथा धर्म पर श्रद्धा भक्ति होती है। अनन्तानुबंधी-चतुष्क (चौकडी) के क्षय व उपशम होने पर चारित्र के ऊपर श्रद्धा-भक्ति होती है।

मिथ्यात्व-मोहनीय के उदय होने पर जीव चतुर्थ गुण स्थान से गिर कर प्रथम गुण स्थान में आ जाता है। सम्यक्त्व मोहनीय के उदय होने पर जीव चौथे गुणस्थान से द्वितीय गुणस्थान में आ जाता है। मिश्र मोहनीय के उदय होने से जीव तृतीय गुण स्थान में आ जाता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व मोहनीय उपशम समकित को ढंकने वाला है, मिश्र मोहनीय क्षयोपशम सम्यक्त्व को ढंकने वाला है और सम्यक्त्व मोहनीय क्षायिक समकित को रोकने वाला है।

चतुर्थ गुण स्थान में अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शन-मोहनीय की तीन प्रकृतियां- इन सात प्रकृतियों के क्षय और उपशम होने से क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। इसके असंख्य आवान्तर भेद हैं क्योंकि इन सातों प्रकृतियों के न्यूनाधिक रूप में क्षयोपशम होते रहते हैं। न्यूनाधिक क्षयोपशम का विस्तार पूर्वक वर्णन सूत्र से समझ लेना चाहिए।

(१३) तेरहवां प्रश्न—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्याना वरण, प्रत्याख्याना वरण और संज्वलन इन चार चौकडियों में से जिस चौकडी के उदय में जीव ने आयुष्य का वन्ध किया, क्या वही चौकडी मरते समय उदय में रहेगी या और चौकडी का भी उदय रह सकता है?

उत्तर—जीव ने जिन परिणामों में आयु का वन्ध किया हो वैसे ही परिणाम मरने के समय उदय में रहते हैं। भगवती सूत्र में कहा है कि—देश-विराधक अवस्था में आयुकर्म का वन्ध हो तो मरने के समय में जीव देश-विराधक होता है और सर्व विराधक रूप में आयु कर्म का वन्ध पडे तो मरते समय भी जीव सर्व विराधक होता है। तथा आराधक अवस्था में आयुकर्म का वन्ध हो तो अन्त समय में भी वह जीव आराधक होता है। इस अभिप्राय से चौकडी के उदय का भी विचार कर लेना चाहिए।

(१४) चवदहवां प्रश्न—वर्तमान काल में स्वयं बुद्ध और प्रत्येक बुद्ध तो हैं ही नहीं, केवल बुद्ध बोधित हैं, तो क्या आजकल साधुजी के द्वारा देने पर ही साधुता आती है या और तरह से भी आ सकती है?

उत्तर—निस्संदेह, वर्तमान में स्वयं-बुद्ध या प्रत्येक बुद्ध नहीं है, केवल बुद्ध बोधित हैं। इसलिए आजकल दीक्षा धारण करने वालों को बुद्ध बोधित ही समझना चाहिए। क्योंकि वे या तो तिर्थंकर देव की वाणी को सुनकर प्रव्रजित होते हैं या गुरु-देव के उपदेश से दीक्षा धारण करते हैं। अतएव वे बुद्ध बोधित ही सिद्ध होते हैं! फिर भी शास्त्र या आचार्य के उपदेशानुसार कभी स्वयं भी दीक्षा ग्रहण की जा सकती है।

(१५) पन्द्रहवां प्रश्न—पुलाक लब्धि और पुलाक निर्ग्रन्थ एक हैं या भिन्न? पुलाक निर्ग्रन्थ में कितनी लेश्याएं पाई जाती हैं?

उत्तर—जिस मुनि को पुलाक लब्धि होती है उसको पुलाक निर्ग्रन्थ कहते हैं। पुलाक निर्ग्रन्थ में तीन लेश्याएं होती हैं। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। कषाय कुशील निर्ग्रन्थ में द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से ६ लेश्याएं हैं, किन्तु भाव की अपेक्षा से तो तीन ही हैं। क्योंकि भगवती सूत्र के प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक में कहा है कि कृष्ण, नील और कापोत इन तीन भाव लेश्याओं में साधुत्व नहीं रहता है। तथा पन्नवणा सूत्र के लेश्या पद में मनः पर्याय ज्ञानी में ६ लेश्याएँ कही हैं। परन्तु वे द्रव्य की अपेक्षा से समझनी चाहिए क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र के चौतीसवें अध्ययन में आदि की तीन लेश्याओं को अप्रशस्त बताते हुए उन लेश्याओं के परिणाम वाले जीवों को छः काय के अविरती और मलिन परिणाम वाले कहे हैं। ठाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे में पुलाक निर्ग्रन्थ को "नो सन्नोवउत्ता" कहा है सो सत्य है। उसकी स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

टीका में पुलाक लब्धि वाले का सामर्थ्य चक्रवर्ती की सेना का संहार कर सकना बताया है। वहां सामर्थ्य-मात्र बताया है, किन्तु संहार करना नहीं कहा है तथा किसी भी पुलाक लब्धि वाले ने किसी चक्रवर्ती की सेना का संहार किया हो, ऐसा शास्त्र में उल्लेख भी नहीं है। इस बात की सिद्धि तो भगवती सूत्र के इस कथन से हो जाति है कि वैक्रिय लब्धि वाला मुनि अगर वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करे और उसकी आलोचना न करे तो वह विराधक होता है। इससे यह फलित होता है कि साधु सैन्य-संहार क्रिया में प्रवृत्ति नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे छः काय के जीवों के प्रतिपालक हैं, घातक नहीं। वे तीनकरण तीनयोग से हिंसा के त्यागी हैं। अतएव टीका का कथन केवल सामर्थ्य की अपेक्षा से है। मतलब यह है कि पुलाक निर्ग्रन्थ में तीन प्रशस्त भाव लेश्याएं ही समझनी चाहिए।

(१६) सोलहवां प्रश्न—पांच आश्रवों में से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और प्रमाद ये चार आश्रव पुण्य के कारण हैं या पाप के? आश्रव रुपी हैं या अरुपी?

उत्तर--(मिथ्यात्व आदि चार आश्रव पाप के कारण हैं, किन्तु योग दोनों का कारण है) चार आश्रवों में योग के द्वारा प्रवृत्ति होती है। योग के दो भेद हैं--शुभयोग और अशुभ योग। शुभयोग पुण्य का कारण है और अशुभयोग पाप का हेतु है। जीव जिसयोग में प्रवृत्ति करता है वैसा ही फल होता है।

द्रव्य आश्रव रूपी है और भाव आश्रव अरुपी है। अज्ञान से होने वाले राग-द्वेष रुप परिणाम भाव,आश्रव हैं। द्रव्य आश्रव के लिए उत्तराध्यन सूत्र में कहा है "खविया-सवे" अर्थात् आश्रव क्षय किया जा सकता है। आश्रव कर्म है और कर्मरूपी है। कषाय और योग आदि चतुः स्पर्शी पुद्गल हैं अतः द्रव्य आश्रव को भी रुपी कहा है।

(१७) सतरहवां प्रश्न---सूत्रकृतांग सूत्र के तृतीय अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक की पांचवीं और छठी गाथाओं में कहा कया है कि---"जीव को साता देने से साता पावें ऐसा कहने वाले आर्य-मार्ग से वाहर हैं तथा वे सुधर्म की हीलना करते हैं।" तेरापन्थियों का भी तो यही कहना है ? फिर उसे सूत्र विरुद्ध क्यों कहा जाता है ?

उत्तर--इस गाथा में तो अपने आप को विषय सम्बन्धी सुखों के द्वारा साता देने वाले को आर्य--मार्ग से वाहर कहा है, क्योंकि वह अल्प वैषयिक सुख के पीछे अनन्त आत्मिक सुख को खोता है, तथा लोह--वणिक् की तरह वहुत पश्चाताप करता है। यहां पर अन्य जीवों को साता देने का सम्बन्ध नहीं है। गाथा के पीछे के चरण में ८ ऋषियों के नाम भी हैं, जो कच्चा पानी, वीज वनस्पति व कन्द मूल के आहार से मुक्ति होना मानते हैं। वे अपने जीव को साता देना ही मुक्ति समझते हैं उनके मतका निराकरण करने के लिए उक्त गाथा है। यह गाथा अन्य जीवों को साता देने का निषेध नहीं करती। जैन आगमों में तो अन्य जीवों को हित वुद्धि से साता देना पुण्य का कारण वताया है। जैन सूत्र कहते हैं कि अन्य जीव को साता देना साता वेदनीय का उपार्जन करना है। भगवती सूत्र में कहा है--"पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकंपयाए सत्ताणुकम्पयाए"। प्राण, भूत, जीव और सत्व की अनुकम्पा करने से साता वेदनीय का बंध होता। तात्पर्य यह है कि सूत्रकृतांग की उक्त गाथा से तेरहपन्थियों की बात सिद्ध नहीं होती है। अन्य जीवों के साता देने का ये निषेध करते हैं, इसलिये सूत्र विरुद्ध है।

(१८) अठारहवां प्रश्न--स्थानांग सूत्र के चौथे ठाणे में ध्यान के चार प्रकार आर्त, रौद्र, धर्म, और शुक्ल कहे हैं। इनमें पूर्व के दो ध्यान कर्मवन्ध के कारण होने से अप्रशस्त हैं ऐसा अपन भी कहते हैं और तेरापन्थी भी कहते हैं। इन दो ध्यानों में तो एकान्त पाप-वन्ध है। पुण्य का वन्ध और निर्जरा तो धर्मध्यान और शुक्लध्यान से ही होते हैं, तव फर मिथ्यात्वी जीवों को जो पुण्यवन्ध होता

है वह किस ध्यान से होता है ? क्योंकि प्रथम गुणस्थान में धर्म ध्यान का सम्भव नहीं है। फिर मिथ्यात्वी को पुण्य बन्ध कैसे होता है।

उत्तर—धर्मध्यान और शुक्लध्यान में तो तीन आराधनाएं हैं—(१) ज्ञानाराधना (२) दर्शनाराधना और (३) चारित्राराधना। इसलिए धर्मध्यान और शुक्लध्यान वाले के व्रत तथा प्रत्याख्यान होते हैं और मिथ्यात्वी जीवों में धर्मध्यान व शुक्ल ध्यान नहीं होने से उनको व्रतादि नहीं होते हैं। अतएव धर्मध्यान व शुक्ल ध्यान में मोक्षमार्ग है और इनमें ही वीतराग प्रभु की आज्ञा है। क्योंकि भगवती सूत्र में मिथ्यात्वी को एकान्त बाल और अज्ञानी जीव कहा है। सूत्रकृतांग में मिथ्यात्वी के कर्तव्य को कर्मबन्ध का कारण कहा है। इसलिए उसको प्रबल पुण्य का लाभ नहीं होता।

फिर भी मिथ्यात्वी को जो पुण्य होता है, उसका कारण अकामनिर्जरा एवं अज्ञान कष्ट में शुभयोग की प्रवृत्ति है। तामली तापस और पूर्ण तापस आदि की जागरणा को अनित्य जागरण कही है। इस विषय का विशेष वर्णन श्री उववाई सूत्र में देखना चाहिए। वहां इनकी देवगति का वर्णन करते हुए इन्हें विराधक कहे हैं। मिथ्यात्वी विराधक ही होते हैं। मिथ्यात्वी में पहले के दो ध्यान ही होते हैं। कर्मग्रन्थ की भी यही मान्यता है।

(१९) उन्नीसवां प्रश्न—भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशक ६ में असंयती और अव्रति को शुद्ध या अशुद्ध चार प्रकार का आहार देने से एकान्त पाप और कर्मबन्ध होना कहा है। इस पाठ के आधार से तेरहपन्थी सम्प्रदाय वाले असंयती को दान देने मे एकान्त पाप बतलाते हैं और दया दान को समूल मिटाने पर तुले हुए हैं। तो इस पाठ का क्या रहस्य है ?

उत्तर—मूल पाठ में 'दिज्जमाणे' पाठ नहीं है किन्तु "पडिलाभेमाणे" पाठ है। इसका अभिप्राय यह है कि तथा रूप असंयती, अव्रति, मिथ्यादृष्टि को गुरु बुद्धि से दान देने में मिथ्यात्व रूप पापकर्म का बन्ध होता है। इस कथन से अनुकम्पा-दान का निषेध नहीं होता। इस विषय में इसी पाठ की टीका में निम्न गाथा दी है:—

मोक्खत्थं जिणदाणं तं पइ एस निस्समक्खाओ।
अणुकंपादाणं पुण जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं॥

इस गाथा से सिद्ध होता है कि जिनेन्द्र भगवान ने कहीं भी अनुकम्पा दान [निषे]ध नहीं किया। श्री सूत्रकृतांग सूत्र के अध्ययन ११ में आरम्भी दान के

विषय में भी साधु को मौन रखना ही कहा है क्योंकि स्वीकृति दर्शाने से हिंसा की अनुमोदना होती है और निषेध करने से बहुत से जीवों को अन्तराय होता है। अतएव दो में से एक भी अभिमत न होने से मौन ही रहने की आज्ञा है। जैसे कि कहा है–"जेयं दाणं पसंसंति वह मिच्छंति पाणिणं, जेय ते पडिसेहंति वित्तिच्छेयं करेंति ते"।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में दान का निषेध करने वालों को चोरों की श्रेणी में गिना है–दान का क्षेत्र बहुत व्यापक है। साधु दान का निषेध नहीं कर सकते हैं साधु कल्प के अनुसार भाषण करते हैं या मौन रहते हैं परन्तु दान का निषेध नहीं करते। वे एकान्त पाप कह कर दान का अपलाप नहीं करते। दया दान का निषेध करने वाले उत्सूत्र प्ररूपणा करते हैं।

(२०) बीसवां प्रश्न–"श्री जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा में धर्म है" यह ठीक है परन्तु श्रावक सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, प्रतिमा-धारण तथा परिस्थापन आदि कामों की आज्ञा मांगे तो साधु दे सकते हैं या नहीं? साधु अगर आहार पानी लाने की आज्ञा नहीं दे तो श्रावक के ये सब काम आज्ञावर्ती कैसे गिने जांय?

उत्तर—आज्ञा के दो भेद हैं–उपदेश रूप आज्ञा और आदेश रूप आज्ञा।

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पाव कम्मं न बंधइ॥

दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन की यह गाथा उपदेश रूप आज्ञा का उदाहरण है। भगवती सूत्र तथा उववाई सूत्र में विनय के दस प्रकार कहे गए हैं। साधु का आगमन सुनकर सन्मुख जाना, साधुओं को जाते समय पहुँचाने जाना, साधुओं के खडे होने पर खडा होना इत्यादि ये उपदेश रूप आज्ञा के प्रकार हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में ७३ बोल प्रश्नोत्तर रूप में हैं, उसमें गुरु व सहधर्मी की सेवा का फल महती निर्जरा रुप बताया गया है तथा दस प्रकार का वैयावच्च करने, संघ, सहधर्मी, संभोगी और क्रियावान की सेवा करने में निर्जरा कही है।

उववाई सूत्र में वर्णन है कि अम्बडजी के सातसो शिष्यों ने संथारा करते समय श्री अम्बडजी को स्वधर्माचार्य समझ कर नमस्कार किया। भगवती सूत्र में कथन है कि शंखजी की धर्मपत्नी ने पोखली जी श्रावक को नमस्कार किया तथा पोखलीजी ने शंखजी को नमस्कार किया। श्री इषीभद्र श्रावक जी को आलाम्बिका के श्रावकों ने नमस्कार किया।

श्री आवश्यक सूत्र में सामायिक प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाओं में उठना बैठना कहा और बिना प्रतिलेखन किये वस्त्र रखने का प्रायश्चित्त बताया, पडिमाधारी श्रावक को निर्दोष आहार व पानी लेना इत्यादि कहा सो उपदेश रूप आज्ञा समझनी चाहिए ।

आदेश-रूप आज्ञा तो गृहस्थ को साधु अपने कल्प के अनुसार नहीं दे सकते हैं जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है–

"तहे वा संजयं धीरो आस एहि करेहि वा ।
सयं चिट्ठ वयाहित्ति नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥"

धीर साधु असंयमी गृहस्थको, बैठ, इधर आ, यह काम कर, सो, खडा रह तथा चलेजा, ऐसा आदेश रूप वचन बुद्धिमान साधु नहीं कहें। सारांश यह कि है साधु आदेश रूप। आज्ञा नहीं देते किन्तु अपने कल्प में रहते हुए उपदेश रूप आज्ञा दे सकते हैं ।

(२१) इक्कीसवां प्रश्न–कोई कहते हैं कि धर्म तो व्रत में है । किन्तु यहां प्रश्न होता है कि आदि के चार गुणस्थान अव्रती के हैं। फिर अव्रत में पाप तथा पुण्य दोनों ही रहते हैं या केवल पाप ही ? तेरहपन्थी लोग अव्रत में एकान्त पाप ही बतलाते हैं। प्रथम गुणस्थान के अधिकारी जीव एक समय भी अविरति से निवृत नहीं हुए फिर भी वे देवलोक में जा सकते हैं इसमें कौनसी अपेक्षा समझनी चाहिए ?

उत्तर—सर्वज्ञ प्रणीत (चारित्र) धर्म तो व्रत में ही है। और अत्याग रूप भाव ही अव्रत है । किन्तु त्याग के मुख्य दो भेद हैं–पञ्चाश्रव का त्याग और निरवद्य पुद्गलों का भी त्याग। साधु पंचाश्रवों के त्याग की अपेक्षा से सर्वथा व्रती हैं और इसलिए वे पूर्ण धर्म के अधिकारी हैं। किन्तु निरवद्य पुद्गल-आहार शरीर, उपकरण, आदि का त्याग करना साधुओं को भी शेष है।

मिथ्यात्वी व्रतधर्म के अधिकारी नहीं है, फिर भी अकाम निर्जरा तथा अज्ञान कष्ट से होने वाले शुभ परिणाम के कारण वे भी पुण्य का संचय करते, और देवलोक में जा सकते हैं । तथा मनुष्य तिर्यञ्च आदि में साता पाते हैं। इस विषय का पाठ उववाई सूत्र में देखना चाहिए।

भगवती तथा सूत्रकृतांग सूत्र के आधार से यह सिद्ध है कि मिथ्यादृष्टि का कर्तव्य धर्म की कोटि में नहीं है।

(इन प्रश्नों का उत्तर प्रत्युत्तर बहुत गहन है। यह उत्तर अत्यन्त संक्षिप्त है। विशेष स्पष्टीकरण समक्ष ही हो सकता है। सं० १८९२ आ. शु० ३)

प्रकीर्ण प्रश्नोत्तर

(१) कुचामन निवासी सेठ लक्ष्मणदासजी ने जानकारी के लिए पत्र द्वारा पूज्य श्री से निम्न प्रश्न पूछा था :—

प्रश्न—भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक ६ में वेदना के चार प्रकार कहे हैं। वे इस प्रकार हैं–(१) कर्कश वेदना, अकर्कश वेदना, साता वेदना और असाता वेदना। उक्त चारप्रकार की वेदनाओं में परिगणित सातावेदना और अकर्कश वेदना में क्या अन्तर है ?

उत्तर—अकर्कश वेदना और साता वेदना एक दृष्टि से तो एक ही हैं, परन्तु भेद यह है कि साता वेदना का बंध चौवीस दण्डक के सम्यगदृष्टि और मिथ्यादृष्टि सब जीव कर सकते हैं, मगर अकर्कश वेदना का बंध तो सिर्फ मनुष्य के दण्डक में ही होता है। जो मनुष्य अठारह पापों से निवृत होता है, वही अकर्कश वेदना का बंध कर सकता है। पापों से सर्वथा निवृति तो सम्यगदृष्टि जीव ही कर सकते हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं। दूसरी बात यह है कि अकर्कश वेदना सुख से भोगने योग्य है। इस वेदना के समय भविष्य में जन्म-मरण की वृद्धि नहीं होती है। साता-असाता का बन्ध तो सर्व साधारण जीव के होता रहता है। यह चौवीस ही दण्डकों के जीवों को होता है। अठारह पापस्थान की कर्कश वेदना को वेदते हुए २४ दण्डक बांधते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव अठारह पापों से अविरत होते हैं अतएव वे जीव निकाचित कर्मों का बन्धन करते हैं। श्रेणिक, गजसुकुमाल, तथा खंदक मुनि के पूर्व भव की तरह वे निकाचित कर्म, भोगने से ही छूटते हैं।

साता वेदना और अकर्कश वेदना में यह अन्तर प्रतीत होता है। तत्व तो केवलिगम्य है। तथा बहुश्रुत कहें सो प्रमाण है।

(इस प्रश्न का उत्तर भगवती सूत्र तथा उसकी टीका को देखे बिना ही लिखा है विशेष टीका से समझना चाहिए।)

(२) कोटा से आया हुवा प्रश्न

अनन्तानुबन्धी चौक वाले जीव की नरक गति होती है, अप्रत्याख्यान वरण चौक वाले की तिर्यञ्च गति, प्रत्याख्यानावरण चौक वाले की मनुष्य गति

तथा संज्वलन चौक वाले की देवगति होती है ऐसा वर्णन स्थानांग सूत्र के चतुर्थ स्थान में है। चारों चोकडी में अप्रत्याख्यानावरण चौक वाले जीव सम्यक्त्वी तथा प्रत्याख्यावरण चौक वाले श्रावक होते हैं। अन्यत्र कहा गया है कि सम्यक्त्वी और श्रावक को सिर्फ वैमानिक देवगति का ही बंध होता है। इस विरोध का क्या समाधान है ?

उत्तर—सम्यक्त्वी द्वितीय चौक वाले और श्रावक तृतीय चौक वाले होते हैं यह सही है, किन्तु जब वैमानिक देवगति का बंध होने लगता है, तब दोनों ही चौक केवल सत्तागत रहते हैं और संज्वलन का उदय रहता है। इस कारण से उस समय लेश्या और योग शुभ रहते हैं। मतलब यह है कि उस समय संज्वलन की मुख्यता और दूसरे चौक की गौणता रहती है। इसलिए वैमानिक देवगति के बंध में कोई बाधा दृष्टिगोचर नहीं होती।

यद्यपि प्रथम गुणस्थान वाला जीव प्रथम चौक वाला ही है किन्तु जब वह वैमानिक देवगति का बन्ध करता है उस समय अनन्तानुबंधी का उदय नहीं रहता है, संज्वलन का उदय रहता है। इसलिए मिथ्यात्व में चारों चौक पाये जाते हैं। तत्व केवलिगम्य है। (सं० १८९७ नागौर)

(२) बीकानेर से आया हुआ प्रश्न–

आश्रव के पांच प्रकार कहे गये हैं। योग आश्रव और शेष चार आश्रवों में क्या प्रति विशेष है ?

उत्तर—यों तो प्रत्येक आश्रव अपनी अलग खासियत रखता है किन्तु योग और चार आश्रव की विशेषता यह है कि योग आश्रव में चार आश्रव की भजना है मगर चार आश्रवों में तो योग आश्रव नियम से रहता ही है। इसलिए योग आश्रव, शेष चार आश्रवों का सहचारी है। विशेषता इतनी है कि कहीं योग आश्रव की मुख्यता होती है और शेष चार आश्रवों की गौणता; कहीं पर चार आश्रवों की मुख्यता और योग-आश्रव की गौणता होती है। जहां पर जिसकी मुख्यता होती है, उसी का नाम निर्देश किया जाता है। ऐसा होने पर भी सहचारी-पन तो रहता ही है।

पांच आश्रवों को गुणस्थानों के अनुसार भी समझना चाहिए। मिथ्यात्व आश्रव प्रथम गुणस्थान तक रहता है, अव्रत चौथे गुणस्थान तक, प्रमाद छट्ठे और कषाय आश्रव १० म गुणस्थान तक रहता है। योग आश्रव तेरहवें गुणस्थान तक रहता है।

अव्रत आदि आश्रवों को उष्ण पानी की उपमा दी गई है। उष्ण पानी से वस्त्र गीला हो सकता है मगर धान्य पैदा नहीं हो सकता है ऐसे योग परिणति से अपरिणत अव्रतादि, कर्म धान्य को नहीं बढा सकते। किन्तु योग आश्रव को मेघ की उपमा दी गई है, जैसे मेघ खेत में धान्य पैदा करता है और जलाशयों को भर देता है, इसी प्रकार योग आश्रव के द्वारा जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी पानी आता है। इससे कर्मों का आगमन और बन्धन भी होता है।

तात्पर्य यह है कि कहीं योग की मुख्यता होती है और कहीं अव्रत, कषाय आदि आश्रवों की प्रधानता होती है। यह अव्रत कषाय आदि भावों में परिणत योग की अपेक्षा कथन है। शुद्ध योग की अपेक्षा नहीं।

मुख्यतया यह प्रतिविशेष प्रतीत होता है। तत्व तो केवलिगम्य है। (सं० १८९४ अजमेर)

उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों से पूज्य श्री की सैद्धान्तिक विचार-धारा का सुन्दर परिचय हो जाता है। भारत के विभिन्न स्थानों से पूछे गए विविध सैद्धान्तिक प्रश्नों का पूज्य श्री द्वारा किये गये मार्मिक निराकरण उनकी आगम मर्मज्ञता, बहुश्रुतता और विद्वता के प्रबल प्रमाण हैं। पूज्य श्री की सेवा में समाधान के लिए आये हुए प्रश्न ही यह साबित करते हैं कि पूज्य श्री अपने काल के एक मनोनीत बहुश्रुत आचार्य थे। उनकी प्रतिभा और आगमिक ज्ञान की गहराई से आकृष्ट होकर जिज्ञासु वर्ग समय समय पर अपनी शंकाएं उनकी सेवा में रखते और पूज्य श्री उनका यथोचित समाधान करते; यह उक्त प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट ही है।

पूज्य श्री का तल-स्पर्शी आगमिक ज्ञान उनके सतत चिन्तन मनन और परिशीलन का परिणाम था। आगम रूपी रत्नाकर में गोते लगाकर आपने अनमोल रत्न प्राप्त किये थे।

पूज्य श्री ने अपने विशाल ज्ञान के द्वारा शुद्ध वीतराग धर्म की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। लम्बे समय से विकारी परम्परा के प्रवाह में बहने वाली जनता को सन्मार्ग पर लाने के लिए समर्थ क्रान्तिकार लोंकाशाह ने जिस क्रान्ति का श्री-गणेश किया था उसी क्रान्ति की लहर के प्रचार और प्रसार के लिए पूज्य श्री ने अपने ज्ञान का सदुपयोग किया।

उस समय में दया-दान के उत्थापक तेरहपन्थ का भी प्रचार बढ़ रहा था वे लोग आगमों का मनमाना अर्थ करके तथा दया-दान के विरुद्ध उत्सूत्र प्ररूपणा

करके भोली-भाली जनता को पथ-भ्रष्ट कर रहे थे। उसके विरुद्ध भी पूज्य श्री ने अपने विस्तृत आगम-ज्ञान का उपयोग किया है। पूज्य श्री ने अपने युक्तियुक्त प्रमाणों द्वारा तेरहपन्थ की मान्यताओं का खण्डन किया और जनता को उनके चंगुल में फंसने से बचाया है।

इस प्रकार आचार्य श्री ने शुद्ध साधुमार्गी वीतराग धर्म की सत्यता प्रमाणित करके अनेकों भव्यात्माओं को सन्मार्ग प्रदर्शन किया। पूज्य श्री ने अपनी सैद्धान्तिक विचार-धारा के द्वारा तत्कालीन वातावरण में व्याप्त गन्दगी को दूर किया और शुद्ध वीतराग-धर्म की प्ररूपणा करके जैन शासन की विजय वैजयन्ती फहराई!

धन्य है ऐसे आगम-मर्मज्ञ आचार्य को, शतशः धन्य है!!

श्री रत्नचन्द्र चरितोदय:

धर्माचार्यात्परो नास्ति नरो जीवोपकारकः।
ततोऽहं भावतो वन्दे रत्नचन्द्रं व्रतीश्वरम् ॥१॥

भाव—धर्माचार्य से बढ़कर दूसरा कोई मनुष्य जीवों के लिये उपकारी नहीं, इसलिये मैं व्रतियों में श्रेष्ठ ऐसे पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी को भाव सहित वन्दन करता हूं ॥१॥

श्रीमान् रत्न विधुः सदा विजयतां शैथिल्यसंहारको—
धर्मोद्धारणतत्परः शुभमतिः शान्तः सदा निस्पृहः ॥
त्यक्ताऽशेष—विष—प्रपञ्च—निवहः सत्साधुसंघाग्रणी—
रस्मन्मानसमन्दिरेऽवतरतु श्रीरत्नचन्द्रो गणी ॥२॥

भाव—वे पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी म० सदा विजयवान् हों, जिन्होंने साधु समाज में आती हुई शिथिलता को २१ नियम बनाकर दूर की। जो धर्म के उद्धार में सदा तत्पर रहते और विमल बुद्धि वाले शान्त तथा निस्पृह थे। जिन्होंने समस्त विष समान प्रपंच को त्यागा था और जो उत्तम साधु समूह के नायक थे। वे पूज्यश्री रत्नचन्द्र जी म० हमारे मनो मन्दिर में निवास करें ॥२॥

श्री रत्नचन्द्र-परिचयश्लोकाः--

महाधन्या धन्वाऽवनिरथलघुर्गौरवगुरुः
कुडग्रामो जातिर्जयति बड़जात्याऽपि जनकः ।
प्रसिद्धो लालेन्दुः समजनि भुविख्यातचरिता
सुमाता हीरादे जनपदहिता यस्य जनुषा ।।३।।

भाव--जिनके जन्म लेने से मारवाड़ की वसुन्धरा धन्य होगई, अत्यन्त छोटा कुड गांव गुरुता से भारी होगया, बड़जात्या गोत्र भी विजय शाली हो गया। लालचन्द्र जी प्रख्यात हो गए और प्रख्यात चरित वाली हीरादे नामक जननी भी देश के लिये हितकारिणी बनी ।।३।।

युग-काल-सिद्धि-विधु-वैक्रमेऽब्दके,
मधु-माधवे धवलिते दले शुभे ।
अजनिष्ट पन्नगतिथौ महामतिः
सुखदः सतां सहि यथा सदागतिः।।४।।

भाव--संवत् १८३४ वैक्रम वर्ष के वसन्त ऋतु के वैशाख शुक्ल पञ्चमी में अत्यन्त बुद्धिमान् प्राणिओं के लिये पवन के समान, सन्तों के सुखदाता श्री रत्नचन्द्र जी ने जन्म ग्रहण किया ।।४।।

उदयाद्दिवाकर-करस्य पुरा, महसा विलुम्पति तमः सहसा ।
तदिवास्य भावि-जनुषः प्रथमं, जननीममुष्य महिमाऽसुखयत् ।।५।।

भाव--सूर्य किरण के उदय होने से पूर्व सूर्य की तेजस्विता के प्रभाव से ही अन्धकार शीघ्र नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार श्री रत्नचन्द्र जी के जन्म से पहले ही उनकी महिमा ने उनकी माता को सुखी बना दिया ।।५।।

शयाना कस्याश्चिन्निशि विधिवशादस्य जननी
विशिष्टं स्वप्नं सा मतिपथ मकार्षीत् प्रमुदिता ।
प्रदीपो दीप्रोऽयं विशति मुख मालोक्य सहसा
प्रबुद्धा दृष्टार्थं पतिमचकथद् गद्गदगिरा ।। ६ ।।

भाव--किसी एक रात्रि में श्री रत्नचन्द्र जी की माता ने निद्रावस्था में दैवयोग से एक विशेष स्वप्न को देखा, स्वप्न यह था कि जलता हुआ दीपक मेरे मुख में प्रवेश कर रहा है इस स्वप्न को देखते ही वह जाग गई, और खुशी होती अपने पतिदेव से देखे हुए स्वप्न को हर्ष गद्‌गद् वाणी के द्वारा निवेदन किया ॥६॥

स्वप्नस्य तस्य प्रथितात्प्रभावात्
तदीयमातापितरौ प्रसन्नौ ।
विज्ञातवन्ता वसितः प्रशस्त-
मपत्यमेतर्हि सदर्हितं स्यात् ॥७॥

भाव--उस स्वप्न के प्रसिद्ध प्रभाव से उनके माता पिता प्रसन्न हुए और उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया कि इस गर्भ से होने वाली सन्तान सज्जनों से सम्मानित होगी ॥७॥

जगत्यजस्राभिरिहोष्णरश्मि--
रुस्राभिराकर्षति नो तमिस्राम् ।
तां तामसीं नृप्रकृतिं प्रणोत्तु-
माविर्भविष्यत्यथ रत्नचन्द्रः ॥८॥

भाव--इस संसार में सूर्य अपनी प्रखर एवं प्रचुर किरणों से तमिस्रा-तमः समूह को अच्छी तरह दूर नहीं करता है, अतः उस तामसी-तमोगुण प्रधान मनुष्य-स्वभाव को प्रेरित करने के लिये श्री रत्नचन्द्र जी होने वाले हैं ॥८॥

रत्नं न यत्नेऽपि समेति निस्स्वो
विधुर्न धौतीह तमोऽनिशन्तत् ।
युनक्तु मक्तं द्वितयं नृरूपे
करोतु तद्यत्र कृतं हि ताभ्यां ॥९॥

भाव--निर्द्धन मनुष्य यत्न करने पर भी रत्न नहीं पाता, और चन्द्रमा सब प्रकार के अन्धकार को सर्वदा दूर नहीं करता। इसलिये ये दोनो रत्न और चन्द्र

मनुष्य के रूप में जुट जांय और उस कार्य को करें। अर्थात् गरीबों के लिये रत्न सुलभ हो और चन्द्र का अंश अज्ञान अन्धकार को सदा दूर करें ॥९॥

अदृष्टशक्त्योपरि दिष्टभाना-
न्ना रत्नचन्द्रोऽप्यजनिष्ट सेष्टे।
निरुक्तकाले पितरौ प्रसन्नौ
सबन्धुभृत्यादिजनाव भृताम् ॥१०॥

भाव—न देखी हुई शक्ति से और उससे भी बढ़कर प्रारब्ध कर्मों के प्रभाव से मनुष्य रूपी श्री रत्नचन्द्र जी भी इष्टघटीयुक्त उक्त काल में अवतीर्ण हुए। इनके माता पिता अपने बन्धु बान्धवों के साथ परम प्रसन्न हो गए ॥१०॥

ग्रसतिगुण मशेषं ग्राम इत्थं निरुक्त्या
त्रिपदयतु यथार्थं रत्नचन्द्रो ऽपियुक्त्या।
विधिरभिमतमेतत् साधितुं रत्नचन्द्रं
नगरगतमकार्षीद् ग्रामतो न्यस्त तन्द्रम् ॥११॥

भाव—ग्राम–गांव शब्द की ऐसी निरुक्ति–अर्थ दिखाने वाले ग्रन्थ से अर्थ यह होता है कि–'ग्रसति गुणान् असौग्रामः' अर्थात् जो दया विचक्षणता आदि सद् गुणों को ग्रस लेंवे यानी ढके रक्खे वह ग्राम। ऐसे ग्राम में अपने नाम को सार्थक नहीं कर सकते, ये श्री रत्नचन्द्र जी अपने गुण निष्पन्न ऐसे नामार्थको युक्ति से विकसित करें। इस विचार से भाग्य ने अनुकूल वस्तु को सिद्ध करने के लिये श्री रत्नचन्द्र जी को कुड गांव से हटाकर नागौर नगर निवासी बना दिया ॥११॥

सौभाग्य–सोपान–परम्परेय–
म मुष्य जाता प्रगतौ पुरस्तात्।
स्वजन्म दात्रोः प्रथमं मनः स्वं
निवर्तयामास ततः समस्तात् ॥१२॥

भाव—इनकी सौभाग्य परम्परा उन्नति–पथ में पहले से ही दिख पड़ने लगी। इन्होंने सर्व प्रथम अपने जन्म दाता माता पिता से दिल हटाया, और फिर समस्त प्रपञ्चों से चित्त को पृथक् किया ॥१२॥

नागोरे नगरे शुभे मुनि-नय:-सिद्धीन्दुसंख्येऽब्दके
वर्षावासमुवास पूज्यपदभाग् श्री ज्ञानचन्द्रो मुनिः ।
तद्व्याख्यान-रसादरेण जनता श्रोतुं सुभूयस्तया
काले बन्धुजनैः सभामहरहः सा सर्वदाऽभ्यागमत् ॥१३॥

भाव—संवत् १८४७ का चातुर्मास पूज्य श्री गुमानचन्द्र जी महाराज ने नागोर नगर में किया । आपके व्याख्यान रस के आदर से वहां की जनता अधिक संख्या में सुनने के लिये समय पर बन्धु बान्धवों के साथ सभा में प्रति दिन आने लगी ॥१३॥

शिशू रत्नचन्द्रः पितुः पार्श्ववर्ती
सुसभ्यैः सहाभ्यागमत्तां सभां सः ।
प्रकृत्यापि तत्कृत्यमित्थं प्रचक्रे
गुरोरादरेऽयोज्यसौ त्यागचक्रे ॥१४॥

भाव—पिता के समीप रहने वाले बालक श्री रत्नचन्द्र जी सभ्यों के साथ उस व्याख्यान परिषदा में आने लगे । इधर कर्म प्रकृति ने भी इस प्रकार अपना कर्तव्य किया । उन बालक श्री रत्नचन्द्र जी को त्याग वैराग्य के चक्र पर चढ़ा कर गुरु भक्ति में नियुक्त कर दिया ॥१४॥

श्री रत्नचन्द्राष्टकम्

चराचर-सुरासुरा-नर-पिशाच-नागेश्वरा
भ्रमन्ति भुवि भूरिशो नव नवादिचक्रातुराः ।
प्रमादपदवी-द्रुताः कुमतिवासनोपद्रुता
भजेऽजितजयं ततो मुनिपु रत्नचन्द्रं मुनिम् ॥१॥
शृणोमि निगमाऽऽगतं कथनमेतदैतिह्यकं
सुतं श्रितनिजान्तिकं मनक माहसय्यं भवः ।
जिनागम पयोनिधे रिह दशादिवैकालिकं
स्वयं तदुभयं भजे, मुनिपु रत्नचन्द्रं मुनिम् ॥२॥

अमोघ वचसार्चिषाऽरच्चदेव दोषापहं
प्रदीपमतुलं द्विपो द्विगुणमेदिधन् रोधतः ।
प्रकाशित गुणं गणं निजमतीव योऽजीगणद्
स्वनामवशगं भजे मुनिपु रत्नचन्द्रं मुनिम् ॥३॥
चकासतितरां गुणा विदितमस्ति लोकोक्तितः
प्रपञ्चमय-पञ्चमे समय एव यस्योदयः ।
तमेव धृतशैशवं प्रचुरतापवाधानव
समजितजयं भजे मुनिपु रत्नचन्द्रं मुनिम् ॥४॥
प्रचारित-निजार्हतं प्रतिकृतारिकृद्गर्हितं
प्रसारितसदर्हितं विहिततीर्थकृत्संमतम् ।
अधिष्ठित-गुणस्थिति-प्रथितचारु-सोपानकं
भजे भजन भाजनं मुनिपु रत्नचन्द्रं मुनिम् ॥५॥
कषायनिकषम् हठादहरदेवसर्वङ्कषम्
ववर्ष बहु-पर्षदि प्रचुरवाक्यपीयूषकम् ।
प्रसन्नधन माश्रिता यमिह सेवका बर्हिणो
भजेऽमृतपयोमुचं मुनिपु रत्नचन्द्रं मुनिम् ॥६॥
सदध्वनि मलीमसं मुनिगणे ऽलसोल्लासितं
समूलमपसारितं कृतिपरेण येनाऽनिशम् ।
य एव निजयाऽऽख्यया गणमभिख्ययाऽऽख्यापमद-
भजे तमपराजितं मुनिपु रत्नचन्द्रं मुनिम् ॥७॥
यदीयसुतपः प्रभा लसति देहली-दीपवत्
पुरः परत एव सा कुमतिसन्तमोऽपाहरत् ।
महोपकृतिकारकं समिति-गुप्ति-सन्धारकं
भजे सुभवितारकं मुनिपु रत्नचन्द्रं मुनिम् ॥८॥

इत्यष्टक समाप्तम्

रम्यसौम्यार्हताऽऽकाशचन्द्रस्य स-
च्चारुचर्यात्मनोरत्नचन्द्रस्य यत् ।
अष्टकं कण्ठहं प्रत्यहं यः पठेत्
तस्य वश्या त्रिलोकी समस्या भवेत् ॥
बाणव्योमनभोनेत्रमिते वैक्रमवत्सरे । (२००५ वर्ष)
वर्षतौ ब्यावर क्षेत्रे वसन् पूज्याष्टकं व्यधाम् ॥

पूज्य श्री हम्मीरमल जी महाराज

जीवनं जगति तत्प्रशस्यते, यत्क्रियद्भिरुपजीव्यते सुखात् ।
यः स्वयं सुकृति संप्रवर्तते, वर्त्यते च जनता यदाश्रयात् ॥

शुभ जन्म

नव-कोटि मण्डित मरुधर देश में नागौर नाम का सुप्रसिद्ध नगर है । इस नगर की सुदूर देशों में भी अच्छी ख्याति है । यह नगर मारवाड का नगीना कहा जाता है । इस धन वैभव से सम्पन्न और सुविख्यात नगर में ओस वंशीय श्री नगराज जी नाम के प्रतिष्ठित व्यापारी रहते थे । आप बडे धर्मनिष्ट, सदाचारी और न्यायपूर्ण जीवन बिताने वाले सद्गृहस्थ थे । आप ओस वंश की छोटे साजन शाखा के अन्तर्गत "गांधी" गोत्रीय थे । आपके ज्ञानकुमारी नामक पतिव्रता और धर्म परायणा धर्मपत्नी थी ।

इसी आदर्श और संस्कारी दम्पत्ति से हमारे चरित-नायक का शुभ जन्म हुआ । माता पिता ने इस सन्तान को पाकर अपने आपको धन्य माना । कुलाचार के अनुसार जन्म से दसवें दिन नव-जात सन्तति का 'हम्मीरमल' नाम रक्खा गया । माता-पिता की वात्सल्यमयी गोदी में चरित नायक की वाल-लीला के ग्यारह वर्ष व्यतीत हो गए ।

पितृ-वियोग और दीक्षा

काल की गति वडी विचित्र है । इस कुटिल कालचक्र ने ग्यारह वर्ष के अबोध वालक पर अपना निर्दय प्रहार किया । उसके प्रधान आधारभूत पिता को

सदा के लिए उससे अलग कर दिया। यह एक अबोध बालक अपने पिता के पवित्र प्रेम से वञ्चित हो गया ! दैवेच्छा बलीयसी !

पितृ-हीन ग्यारह वर्षीय पुत्र को लेकर धर्मपरायणा माता अपने पीहर-पीपाड़ शहर में आकर रहने लगी। कालान्तर से पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी म० की सम्प्रदायानुयायिनी महासती जी श्री वरजूजी म० विचरती हुई पीपाड़ पधारीं। प्रारम्भ से ही ही चरितनायक की माताजी की अभिरुचि संत-सतियों के समागम की ओर थी ही मगर पति के वियोग के पश्चात वह रुचि और भी तीव्र हो चली थी। महासतीजी के दर्शन और समागम से माताजी ने संसार की असारता और चंचलता समझी। आपने अनुभव की दृष्टि से संसार का भीतरी भाग देखा था। आपको यह अनुभव हो गया कि इस संसार में क्षणिक शान्ति और विश्रान्ति के अतिरिक्त शेष थकना ही थकना है। इसमें वास्तविक सुख की छाया तक नहीं है।

आपका हृदय वैराग्य रंग से रंग गया। वैराग्य-में ओत-प्रोत होकर आपने महासतीजी से प्रार्थना की कि "मेरी यह प्रबल भावना है कि मैं चारित्र अंगीकार करूं और साथ ही अपने पुत्र को भी इसी कल्याणकारी मार्ग का पथिक बनाऊं।" महासतीजी ने उन्हें पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी म० की सेवा में जाकर अपने विचारों को उनके सन्मुख रखने की सम्मति दी।

तदनुसार माताजी अपने प्रिय पुत्र को साथ लेकर पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी म० की सेवा में पहुंची। उस समय पूज्य श्री बर के पास मेला के बरीटिया नामक ग्राम में विराजमान थे। पूज्य श्री की सेवा में पहुँच कर माताजी ने स्पष्ट शब्दों में अपने मनोभाव व्यक्त किये और पूज्य श्री से प्रार्थना की कि "मैं अपने प्रिय पुत्र को आपकी सेवा में समर्पित करती हूँ। मेरी यही कामना है कि आप इसे कल्याण-मार्ग का पथिक बनावें। आप जैसे महापुरुषों की सेवा में इसे अर्पण करने में मैं इसका और मेरा वास्तविक कल्याण समझती हूँ। अपनी सन्तति की हित कामना से मैं ऐसा कर रही हूँ। आप इसे स्वीकार करें !"

माता की अपने प्रिय पुत्र के प्रति इस तरह की वास्तविक कल्याण-कामना देख कर पूज्य श्री को प्रसन्नता हुई। पूज्य श्री ने धर्मपरायण माता की धर्म भावना की सराहना की। माता की प्रार्थना को स्वीकार करके पूज्य श्री ने वहीं सम्वत् १८६३ फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को अमृत वेला में ११ वर्षीय बालक हम्मीरमल को भागवती दीक्षा प्रदान की। बालक हम्मीरमल की दीक्षा निर्विघ्न पूर्ण हो जाने के पश्चात माताजी ने भी परम वैराग्य से महासतीजी श्रीबरजू जी के पास दीक्षा धारण

की । जिस वैराग्य से प्रेरित होकर आपने चारित्र मार्ग अपनाया उसी भावना के साथ अन्त तक निर्मल संयम का पालन कर आप स्वर्ग सिधारीं ।

अध्ययन और तप आराधना

दीक्षा धारण करने के पश्चात बालक मुनि श्री हम्मीरमलजी म० ने विद्याध्ययन आरम्भ किया । बुद्धि-प्रतिभा, विनय परिश्रम और गुरुदेव की कृपा के कारण आपने शीघ्र ही अच्छी योग्यता प्राप्त करली । पूज्य श्री जैसे समर्थ विद्वान आचार्य गुरु हों और ऐसे प्रतिभा सम्पन्न शिष्य हों तो उस अध्ययन की बात ही क्या ! आपने पूज्य श्री की सेवा में रह कर शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन कर लिया । आपके लेखन से ज्ञात होता है कि आपने संस्कृत प्राकृत का भी ज्ञान प्राप्त किया था । समयसारनाटक आदि कई ग्रन्थ आपको अभ्यस्त थे।

ज्ञान की आराधना के साथ ही साथ आपने तप का आराधन भी आरम्भ कर दिया था । अतएव आपके जीवन में तपश्चर्या और त्याग की प्रधानता दृष्टिगोचर होती थी । आपने चार वर्ष तक निरन्तर एकान्तर तप किया था । एकान्तर तप के चलते रहने पर भी वेला, तेला, पांच, आठ, आदि विशेष अनशन तप किया करते थे । अपकी तपश्चर्या की महिमा वाहृय चमत्कार के रूप में नहीं दिख पडती थी, क्योंकि आप स्वभाव से ही तपः प्रभाव के प्रदर्शन के विरोधी थे । आप प्रत्येक धर्म-क्रिया केवल मुक्ति की कामना से करते थे। "वैराग्य रंग : परवंचनाय" इस उक्ति के अनुसार दिखावे को बुरा समझ कर आडम्बर से आप कोसों दूर थे।

कतिपय-विशेषतायें

पंच महाव्रतों का पालन करना तो प्रत्येक मुनि के लिए साधारण बात है। किन्तु तप नियमादि रूप जो उत्तर गुण हैं, उनमें कोई २ मुनि विशिष्ठ साधना वाले होते हैं । जैसे कोई स्वाद विजयी तो कोई सेवाव्रती आदि । आप भी अपने संयमी जीवन में कतिपय विशेष नियमों का पालन करते थे । घृत के अतिरिक्त सब धारविगय दूध, दही, तेल, मीठा, आपने त्याग दिए थे । सिझे हुए अचित्त हरे शाक का भी आपने त्याग कर लिया था । जीवन-रक्षा के निमित्त आपने केवल दस द्रव्य रक्खे थे उनके उपरान्त और सब द्रव्य छोड रक्खे थे । सूखडी मेवा-मिठाई की वस्तु आप उपयोग में नहीं लेते थे । हेमन्त तथा शिशिर काल में भयंकर ठंढी के समय भी आप केवल एक पछेवडी ही धारण करते थे । आपने परिषहों पर विजय प्राप्त की थी । परिषहों को सहन करके आपने अपने देह का इस प्रकार साधन कर

लिया था कि प्रचण्ड शीत और उष्ण का कष्ट भी आपको प्रतीत नहीं होता था। आपके लिए ग्रीष्म काल की उष्णता और माघ मास की सर्दी एक सी थी। बिछौने में दो तह कम्बल मात्र बिछाते थे। यही आपका षट्ऋतु का आसन था। इस प्रकार आपकी पौद्गलिक रुचि एकदम अल्प थी। जिसने अध्यात्म का आनन्द अनुभव किया हो भला उसकी पौद्गलिक सुख की ओर अभिरुचि हो ही कैसे सकती है! 'ज्ञानंभारः क्रियांविना' इस उक्ति के अनुसार आपने ज्ञान को भार भूत नहीं बना रक्खा था।

मान और अपमान का विचार आपके हृदय से निकल-सा गया था। इन सब सद्गुणों के कारण ही आप अपने समय के आदर्श संत समझे जाते थे।

प्रभावशाली उपदेश

आपका उपदेश बडा प्रभावोत्पादक होता था। उसमें वैराग्य की अखण्ड धारा प्रवाहित होती थी। उपदेश मे आडम्बर को लेशमात्र भी स्थान नहीं था क्योंकि आपके उपदेश मे 'जन रंजन' के स्थान में कुमति निकंदन का ही प्रधान लक्ष्य था। जिस प्रकार अमावस्या की काली निशा में निद्रा-विभोर मनुष्यों के कानों में प्रहरियों की "सोने वालो, जागो २" की आवाज अचूक असर करती है, इसी प्रकार आपकी आत्माभिमुख वैराग्यमयी वाणी श्रोताओं के हृदय मे धर्म की जागृति, जैनागम पर अटूट श्रद्धा और आचरण में पवित्रता का संचार करती थी।

आपकी वैराग्यमयी वाणी-सुधा ने अनेक भव्यात्माओं और भक्तजनों को नवजीवन प्रदान किया था। आपके सदुपदेश से अनेक व्यक्ति पहुँचे हुए भक्तों की श्रेणी में अपना स्थान प्राप्त कर गए।

आचार्य के रूप में

पाठक जान गये होंगे कि स्वर्गीय पूज्य श्री के अनेक शिष्यों मे मुनिश्री हम्मीरमल्लजी का स्थान एक सुयोग्य और कृपापात्र शिष्य तरीके था। पूज्य श्री ने गच्छके निर्वाह करने में आपको योग्य समझा, और इसीलिये अपने अन्तिम समय में चार दिन तक जब आहारपानी से निवृत्त हो जाते तब एकान्त में आपसे समुदाय सम्बन्धी बातें करते। पूज्यश्री ने जो आपको अन्तिम समय भोलावणे दी उनका सार इस प्रकार है—
" १ श्री गुमानचन्दजी २१ बोल बांधिया ज्यांरी पकावट राखजे। २ मैं आचार सम्बन्धी ढालां वणाइ तिके बोल सैंठा राखजे। ३ सागारी सु समभाव राखजे। ४ आरजिया सु समभाव राखजे। इसी वरतण राखजो सु इणलोग मे सोभा होवे ने परलोगरा आरा-

धक हुवो, इसो काम करजो।" मुनि श्रीने पूंज्यश्री की सभी आज्ञाओं को विनय पूर्वक स्वीकार की उसी समय पूज्य श्री ने अपना पछेवड़ा मुनि हम्मीरमल्लजी को ओढादिया।

पूज्य श्री की कृपा के अनुसार तो सम्वत् १९०२ के ज्येष्ठ सुदि १४ को जब उनका स्वर्गारोहण हो गया तब आप आचार्य बन चुके थे किन्तु वैधानिक रीति से चतुर्विध संघ के द्वारा पद प्रदान की व्यावहारिक क्रिया अभी नहीं हुई थी, इसलिए पूज्य श्री के स्वर्गवास बाद शासन और गच्छ की व्यवस्था करने के लिए चतुर्विध श्री संघ में विचार-विनिमय होने लगा। आपकी योग्यता और सद्गुण गरिमा के कारण सबकी दृष्टि आप पर ही जाकर ठहरी। आचार्य पद के लिए आवश्यक सब सद्गुण आप में विद्यमान थे अतएव सं० १९०२ आषाढ कृष्णा त्रयोदशी के दिन चतुर्विध श्री संघ ने आपको पूज्य पद पर विराजमान किए। आचार्य-पद-महोत्सव बडे समारोह के साथ किया गया।

आपने आचार्य पद पर आसीन होने के बाद बडी कुशलता के साथ अपनी जवाबदारी का पालन किया। छोटे बडे सभी संतों का यथायोग्य सम्मान करते हुए आपने किसी को भी असंतुष्ट नहीं किया। क्योंकि आपमे पद पाकर भी गर्व का अभाव था। आपने जिस योग्यता के साथ गच्छ का संचालन किया वह प्रशंसनीय है। आपके शासन काल में सम्प्रदाय की में अच्छी उन्नति हुई।

भक्त के रूप में

आप बडे गुरुभक्त थे। गुरु महाराज की अंगचेष्टा से ही उनके भावको समझ लेना यह आपका प्रधान दृष्टिकोण था। आपने समझ रक्खा था कि गुरु ही सच्चे माँ बाप हैं। कहा भी है कि–'कामदहन किरिया करे, गुरु से राखे धेख। फले न फूले साधवा करणी करो अनेक।" आपका इस पर पूरा विश्वास था। दीक्षाकाल से पूज्यश्री के स्वर्गवास तक में आपने एक भी चोमासा अलग नहीं किया। (कवियों की उक्ति में यह गुरुशिष्य की आदर्श जोडी थी) पूज्यश्री के अन्तिम समय में जो आपने शुश्रूषा की और उनके आदेशों को शिरोधार्य किये उन से आप की विनयशीलता का पूरा परिचय मिलता है। देखिये पूज्यश्री के स्वर्गवास के बाद व्यथित हृदय से भी आपका गुणगान कैसा होता था,——"पूज विरह दिन दोहला हो, निकले बरस समान। कहे हमीर किम विसरूं हो, सत गुर जीवन प्राण हो, पू०। कलश——तिम दयासागर, सुबुधआगर धरम का रतनेसए। अण-गार ईस, नरेसपूजक, सोहत श्री रतनेस ए। सहज-चंदन, मोहनिकंदन, मयावंत सुरिंदए। भवजीव तारण, भयनिवारण, आंथियो सूर मुनिंदए। इम विबुध मंडन, अन्नखंडन, सहस्ररश्मि सुहावए। सकल जीव सुहित वंछक, निजगुण सुख अनुभावए। तिहलखे जीव रु भिन्न जड गुण, ममतभाव विडारए। रतनत्रय निध धार निश्चय, अनुभव गमन सु

प्यार ए। तसु शरीर अवयव, अती सुंदर, प्रज्ञा तसु विशालए ॥ हम्मीरसल निशदिन प्रण में, गुण रतन हिय धारए ॥२॥"

गुरुभक्ति की तरह आपके हृदय में प्रभु-भक्ति का स्रोत भी निरन्तर प्रवाहित होता रहता था। आपका हृदय भक्ति रस से ओत-प्रोत था। आपका मानस रुप-मान सरोवर भक्ति की तरंगों से तरंगित रहता था। आपकी भक्ति कृत्रिम नहीं वरन हृदय की सहज उर्मियों के रूप में होती थी। उसमें प्रसिद्धि की कामना नहीं थी। अन्य कृत्रिम भक्त जहां दुनियां में हलचल मचा कर प्रख्यात होते हैं वहां वास्तविक जैन उपासक दुनिया के वातावरण से दूर रह कर प्रभु उपासना में अन्तर्लीन हो जाते हैं। संसार की कीर्ति कामना से ऊंचे उठकर वे एकान्त शान्त स्थान में उस अनिर्वचनीय स्वरूप को पाने की साधना करते रहते हैं। यही उनका मनोरथ यही उनका उद्यम, और यही उनकी चरम और परम सफलता है।

जिस प्रकार एक प्रकाश करता हुआ दीपक दूसरे अगणित दीपों को प्रकाशित कर सकता है उसी तरह एक सच्चा भक्त दूसरे अनेक भक्तों का निर्माण कर सकता है। पूज्य श्री के भक्ति-दीप ने अन्य अनेक अप्रकाशित हृदयों में भक्ति का प्रकाश चमकाया था। जिसके प्रमाण स्वरूप भक्त कवि विनयचन्द का जीवन है।

प्रसिद्ध विनयचन्द चौवीसी के रचयिता, भक्तवर कवि श्रेष्ठ श्री विनयचन्दजी पर पूज्य श्री की भक्ति का ही प्रभाव पडा है। कविवर विनयचन्दजी मारवाड के दहीखेडा ग्राम के निवासी सेठ गोकुलचन्दजी कुम्भट के सुपुत्र थे। आप बाल्यकाल से ही प्रज्ञाचक्षु (अन्धे) थे। पूज्य श्री की सेवा और समागम का स्वर्ण संयोग मिलने के आपने जैन धर्म का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। हृदय की सरसता के कारण पूज्य श्री के वचन रूपी बीज आपके हृदय क्षेत्र में अंकुरित हो उठे। वही अंकुर काल पाकर चतुर्विंशति स्तुति रुप लता के पल्लवों के रूप में लहराने लगे। जैसा कि उन्होंने स्तुति के अन्त में कहा है—"चौवीस तीरथ नाथ कीरत, गांवतां मन गह गहें कुम्भट गोकुलचन्द नन्दन विनयचन्द इणपर कहे। उपदेश पूज्य हमीर मुनि को तत्व निज उर में धरी। उगणीस सो छके छमच्छर महास्तुति पूरण करी॥"

इन अध्यात्म प्रेमी व प्रतिभा सम्पन्न कवि की रचनाओं में भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित हुई है। आपकी रचनाओं का विद्वत्समाज और भक्तजनों में बडा आदर है। पूज्य श्री जवाहरलाल जी म० तो अपने व्याख्यान में 'प्रतिदिन' आपकी चोवीसी की प्रार्थनायें बोला करते थे। जब पूज्य श्री कविता में रहे हुए आध्यात्मिक

भावों को खोल कर जनता के सन्मुख रखते तो नीरस हृदय भी भक्ति के रस में डूबकर परमात्मा की भक्ति में लीन हो जाते थे ।

यह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि कविवर की रचनाओं में बहने वाला भक्ति का प्रवाह पूज्य श्री के सदुपदेश का ही परिपक्व परिणाम है ।

पूज्य श्री की लेखनकला

विविध धार्मिक और गच्छ सम्बन्धी प्रवृतियों के होते हुए भी पूज्य श्री शास्त्र लेखन का कार्य करते थे । आपकी लेखन कला बड़ी सुन्दर थी । आपके हाथ के लिखे हुए निम्न ग्रन्थ मिलते हैं:—

(१) चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, टव्वार्थ (२) अनुयोग द्वार सूत्र टव्वार्थ (३) निरयावलिका टव्वार्थ (४) उपदेश-रत्न कोष (षट्त्रिंशिका) व्याख्या पृष्ट १३ (५)द्रौपदी चर्चा पृ, २१ (६) रत्न संचय पृ.१८ (७) वाणारसी विलास पृ. ३१ (८) तेरहपन्थ चर्चा पृ. १३ (९) भगवती हुण्डी (१०) सूत्र सग्रह पृ. १५ (११) समयसार पृ. १४ (१२) सामुद्रिक पृ. ४ (१३) हेम पंडक पृ. ६ (१४)आचारंग सूत्र द्वितीय श्रुत स्कन्ध पृ. ११५ (१५) तेरह ढाल पृ. ५ (१६) स्वरचित पूज्य गुण चो. ढा. प. ४ प्राण हुडी प. १३, संग्रहणी ट. सचित्र आदि ।

पूज्य श्री के चातुर्मास

दीक्षा लेकर आपने कुल ४८ चातुर्मास किए । जिनमें ३९ चातुर्मास तो गुरु महाराज की सेवा में रहकर किए और ९ आचार्य पद के वाद स्वतन्त्र किए । आपके चातुर्मास से १२ क्षेत्रों को धर्म का लाभ मिला । रीयां, रायपुर, मेडता, महामंदिर, वडलू और पीपाड इन ६ गांवों में १-१ चातुर्मास हुआ और जयपुर में २ किशनगढ में ३ अजमेर में ५, पाली में ८, नागोर में ११, तथा जोधपुर में १३ चातुर्मास किए ।

आचार्य पद के वाद नो चातुर्मास किए जो निम्नप्रकार से हैं—

१९०२ जोधपुर ठा० ५, १९०३ नागोर ठा० ९, १९०४ पाली ठा० ४, १९०५ किशनगढ ठा० ५, १९०६ नागोर ठा० ६, १९०७ जोधपुर ठा० ६, १९०८ अजमेर ठा० ५, १९०९ जयपुर ठा० ६, १९१० नागोर ठा० ९ । अनेक प्रान्तों में विचरते हुए भी खासकर आपका विहार क्षेत्र मारवाड ही रहा है । आपके शासनकाल के ९ वर्ष में ५ मुनि दीक्षाएं हुई ।

पूज्य श्री का महाप्रयाण

पञ्चम काल का प्रभाव जगत को महापुरुषों का लाभ चिरकाल तक नहीं लेने देता। संयोगवश संवत् १९१० के चैत्र मास में पूज्य श्री को अन्न में अरुचि होने लगी। भोजन करने से वमन हो जाता था यह व्याधि बढ़ते बढ़ते श्रावण भाद्रपद और आश्विन मास में तो बड़ी उग्र बन चुकी थी। ऐसी अवस्था में भी देह के प्रति आप का निर्मम भाव अविचल रूप से बना रहा। आप शान्ति के साथ परीषह सहन करने लगे।

वैद्यों का उपचार होता था परन्तु उससे आराम नहीं हुआ। वैद्यों ने अपनी असमर्थता प्रगट की। चतुर्विध संघ के नेताओं ने वैद्यों से परामर्श किया। सबने व्याधि की गम्भीरता और असाध्यता जाहिर की। संघ के नायकों ने बड़े दुख के साथ पूज्य श्री को सब स्थिति कह सुनाई। इस पर पूज्य श्री ने किसी प्रकार की व्याकुलता न लाते हुए प्रसन्न चित्त से फरमाया-"आप लोग दुखी क्यों होते हैं? हमारे लिए तो यह प्रसन्नता का प्रसंग है। संत पुरुष को मृत्यु का भय कभी नहीं होता।। इस नश्वर तन का विनाश तो अवश्यम्भावी है फिर उसकी चिन्ता करना वृथा है ऐसे प्रसंग पर हमें सावधान कर देना आपका कर्त्तव्य है। आपने यह सूचना करके अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। मुझे इसकी खुशी है। शरीर की स्थिति क्षणभंगुर है अतएव मुझे अब संलेखना-संथारा करके हंसते हुए मृत्यु का स्वागत करना चाहिए। पण्डित मरण की प्राप्ति होना हमारा सद्भाग्य है।"

शास्त्र में कहा है कि 'मरणं तु स पुण्णाणं, जहामेय मणुस्सुयं' पुण्यशालिओं का मरण भी गाया जाता है। उनको उस समय भी हंसी रहती है। कहा भी है-वही रोवे कि जिनके हैं, नशीबों में सदा रोना। यहां तो वक्त मरने की भी, होठों पर हंसी होगी।" शरीर रूप साधन से जिसने सत्कर्म की पूरी साधना करली उसको शरीर के छूटने से हर्ष या शोक नहीं होता। वह तो जीवन और मरण दोनों में समचित्त रहता है, मृत्युसुधार ही आत्म सुधार का प्रधान पाया है। ऐसा सोच कर पूज्य श्री ने मूलगुण तथा उत्तरगुण में लगे हुए दोषों की आलोचना की। जब २ भी अस्वस्थता उग्ररूप में हो चलती आप आलोयणा से आत्म शुद्धि करलेते। इस प्रकार ३ वार आलोचना की। आलोचना द्वारा आत्मशुद्धि करके आपने सब जीवों से क्षमायाचना की।

श्री संघ के हित चिन्तकों ने जब भावी आचार्य की नियुक्ति के लिए पूज्य श्री से प्रार्थना की तब पूज्य श्री ने आचार्य पद की विशेषता, योग्यता तथा जवाबदारी का वर्णन करके मुनिवरों और श्रावकों से अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया।

आश्विन शुक्ला चतुर्दशी का उपवास करके पूर्णिमा के दिन पूज्यश्री ने पारणा किया। शारीरिक पीड़ा अधिक हो जाने के कारण पूज्य श्री ने पुनः सब जीवों को खमा कर सायंकाल में २० प्रहर का सागारिक संथारा स्वीकार किया। उसी रात में आपने यावज्जीवन चतुर्विध आहार का त्याग किया। और अरिहंत, सिद्ध आदि पंच परमेष्टी के ध्यान में आप लीन रहें। पांच प्रहर तिविहार और एक पहर का चोविहार संथारे की आराधना करके कार्तिक कृष्णा १ को समाधि मरण के द्वारा पूज्य श्री ने सफलता पूर्वक ऐहिक लीला पूर्ण की। नागोर के चोमासे में पूज्य श्री स्वर्गवासी हुए। लगभग ६१ वर्ष की वय में आपका स्वर्गवास हुआ।

श्रावक समुदाय ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से उत्साह और समारोह के साथ आपके शवका अग्नि संस्कार किया। ओसवाल श्रावगी के अलावा अग्रवाल मेसरी आदि हजारों की जनता ने आपकी शव यात्रा में भाग लिया।

मरुधर देश के गगनांगण में चमकने वाला, दान शील तप और भाव रूप कमलों को विकसित करने वाला और मिथ्यात्व रूप अन्धकार को दूर करने वाला सूर्य मृत्यु मय जलद-पटल मे सदा के लिए छिप गया! यह भूमि एक सन्मार्ग-दर्शक प्रिय महात्मा के अस्तित्व से वँचित हुई। दुनियां ने एक आदर्श महापुरुष खोया!

पूज्य श्री अपने पीछे ऐसा आदर्श छोड गए जिससे वे मरकर भी सदा के लिए अमर होगए।

मुनि श्री नन्दलालजी म०

सिद्धाः शरणम्—"जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में परम उदार ढुंढार देश है। उसमें दुंणी के पास आवां ग्राम में गुण रत्नों के चरम रत्नागर के समान मुनि नन्दराम जी का जन्म हुआ था। आपके पिता का नाम ताराचन्द जी वगेरवाल था और आपकी माता का नाम धणाजी था इन दोनों धर्मात्मा पति पत्नी से सं० १८८० श्राव० शुक्ला ६ की रात्रि के अन्तिम भाग में आपका शुभ जन्म हुआ। ग्रामवासियों के साथ समस्त परिवार वालों ने खुशी मनाई। सौभाग्यवती सुन्दरियों ने मंगल गीत गाया। संसार की रिवाज के अनुसार बहुत विस्तार से पुत्र जन्म मनाया गया। ज्योतिषियों ने आकर लग्न स्थिर किया। इनके संकेतानुसार प्रायः मघा नक्षत्र के प्रथम चरण में जन्म होने से परम प्रमोद के साथ पिता ने नन्दराम जी ऐसा नामकरण किया। द्वितीया के चन्द्रमा के समान आप

बढने लगे । बाल काल की बाल क्रीडा अवर्णनीय थी । संस्कृत के किसी कवि ने ठीक ही लिखा है-"दिगम्बर गणोपेतं जटिलं धूलि धूसरम्" । भाग्यवन्तः प्रपश्यन्ति गंगाधरमिवार्भकम्" अर्थात् बालकों के साथ बाल क्रीडा में निरत, बिखरे कुंचित केश और धूलि से धूसर दिगम्बर ऐसे शिव के समान सौम्य सुन्दर शिशु को भाग्यवान ही पाते है । पुण्यशील इस बालक के पैदा होते ही मानो इस शिशु के मुखचन्द्र को देखने के लिए ही लक्ष्मीदेवी दौड कर घर में आ पहुँची । योग्य अवस्था जानकर पिता ने पढने के लिए पोसाल में दोनों भाई को भेजे । आपके छोटे भाई का नाम भोवानजी था । दोनों भाईयों ने गृहस्थोचित शिक्षा प्राप्त की। आपके पूज्य पिता ताराचन्द जी श्रावक धर्म के पूर्ण आधारक थे, नित्य की भांति एक दिन धर्म ध्यान कर रहे थे कि उनका हृदय मुनि पद प्राप्त करने को लालायित हो उठा । आप लघु कर्मी थे अतएव आपके मन में यह विचार उठा—कि मनुष्य का जीवन तो क्षणभंगुर है । मनुष्य चाहे भूल जाय किन्तु काल तो सदा प्राणियों के सिर पर चक्कर लगाता ही रहता है । अचानक जीव को इस भूमि पर से उठा लेता है, किस के पुत्र और किसकी स्त्री ? मैं तो अब इस सारे ही जंजाल को छोडता हूँ । इन्होंने हजार बार संसार को धिक्कार दिया क्योंकि विचार से संसार को असार पाया । आखिर आपने संयम लेने का पक्का इरादा कर लिया । इसी समय आपको भर्तृहरिजी की कविता याद पडी जिसमें लिखा है कि "सर्ववस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्य मेवाऽभयम्" अर्थात् संसार में सभी स्थिति भय से आक्रान्त है केवल एक वैराग्य ही निर्भय है । पुनः विवेक ने बढापे का चित्र सामने खींच दिया जो कि परम विकारमय था ।

ताराचन्दजी ने अपने पुत्रों के सामने विचार प्रकट किया और कहा कि मैं तो दीक्षा लेता हूँ बोलो तुम क्या करोगे ? पुत्र ने विनय भाव से कहा कि पिताजी ! सत्पुत्र का कर्त्तव्य तो उत्तम कार्यो में पिता का अनुगमन करना ही है अतएव मैं भी आपके साथ ही रहूँगा । इस पर पिता ने पुत्र का साथ अच्छा समझा, तृण समान सम्पत् समझ कर स्त्री को सोंप दी आवश्यक सत्कार्य के लिए २ सौ रुपये साथ लिए । इस प्रसंग में आपकी धर्म पत्नीने प्रथम तो पति पुत्र को ही रखने चाहे, किन्तु पति का दृढ निश्चय जान कर पुत्र को रखने की पूरी कोशिश की, बहुत आजीजी की-पत्नी की दशा उस समय करुणाजनक थी उसने अंजली बांधकर विनन्ती की कि "नाथ ! पति पुत्र की एक साथ विरह वेदना को यह अबला कैसे सहेगी ? मुनियों का मन तो बहुत करुणा मृदु होता है, इतनी करुणा हमारे पर कीजिये, पुत्र को मेरे पास निराधार के आधार के तरीके रहने दीजिये । इस पर ताराचन्दजी ने कहा कि मैं न ले जाता हूँ या न रख सकता हूँ, इस बात को मैं मानता हूँ कि पुण्य योग के बिना संयम योग

दुर्लभ है। जिसे मैं खुद अपनाना चाहता हूँ पुत्र को उससे विमुख रहने को कैसे कहूँ ? तुम जानो तुम्हारा पुत्र जाने, मैं तो संयम लुंगा, पुत्र ने अटल भाव से कहा कि मैं संयम अवश्य लूंगा, यह दृश्य बडा असरकारक था पिता पुत्र को धन्यवाद देते और पुत्र पिता को धन २ कहते हैं, इस प्रसंग को सुनकर लोग विस्मय करने लगे, दो पुत्रों के साथ पिता का संयम भार लेना लौकिक निगाह से असम्भव सा था। जिस समय दो पुत्रों के साथ पिता ताराचन्दजी घर को वनिता को और विभव को सदा के लिये छोड कर चले उस समय सभी के मुंह से धन्य पिता और धन्य दोनों पुत्र ! यह वाक्य निकलने लगा। अब आपके मन में बस एक कामना थी कि मनोऽभिलाषित पूर्ण आचारी गुरु मिलें, जिनसे दीक्षा लेकर क्रिया का पालन करता हुआ आपके चरण कमल की सेवा करुं, इस विचारसे आप कई स्थानों में गये, मारवाड में जाकर आपने कई सम्प्रदाय देखीं, किन्तु वे सम्प्रदायें रुची नहीं, और अन्त में आपको पूज्यश्री रत्नचन्द्र जी की सम्प्रदाय में दीक्षा लेना योग्य दीखा क्यों कि, यह सम्प्रदाय दिनकर के समान दीप रही थी। जिस वक्त इस सम्प्रदाय की बात आपको सुन पडी उस समय आपके हृदय में परमानन्द हुआ, बाद में आप पाली नगर में आये। वहां पर भाग्य योग से मुनि श्री धीरजमलजी महाराज का दर्शन मिला, वन्दना कर व्याख्यान सुनने लगे, व्याख्यान में श्रोताओं का समूह शोभा सरसा रहा था। वाणी रूप से सुधा की धारा वसुधा पर सुलभ होरही थी। तत्काल में नन्दरामजी ने मुनिश्री धीरजमल्ल जी को गुरु धार लिया, आपने इस भूमंडल में दया धर्म को खूब दीपाया जिसे सभी कोई जानते हैं। जिस समय मुनिमुद्रा से दुर्गतिहारिणी भवोदधितारिणी ऐसी धर्म कथा फरमाते थे उस समय श्रोताओं की आंख और कानों में मन को लेकर द्वन्द्व मच जाता था, आंख चाहती थी कि मनोयोग से मैं मनोहर मूर्ति देखती रहूँ, कान चाहता था कि मन की मदद से मैं सुधा मधुर वचन को सुनूं, आप फरमातेः-देशव्रत्ती (श्रावक श्राविका) और सर्व व्रती (साधु साध्वी) ये दो मार्ग धर्म में हैं। इन दो मार्गो के पथिक कोई देवगति में जाते हैं और कोई २ संयम रूप कुठार से कर्मवृक्ष को काट कर शिवपुर (मुक्ति) में जाते है। यह चेतन जीव निजगुणों को भुलाकर और परम गुणों को अपना कर भिखारी के समान चार गति में चौरासी लाखवार भ्रमण कर चुका है, मिथ्या अंधकार को दूर हटाने के लिए आक्षेपण, विक्षेपण, संवेग, निर्वेग इन चार भेदों से संवेग की आराधना करते हैं। फिर आपने फरमाया कि लोग समझते हैं कि सूर्य का उदय अस्त होता है यह एक मनोरंजन की बात है किन्तु अपना जीवन जाता है इसकी खबर नहीं, यह जीव तरह २ का प्रोग्राम बनाता है और कूट कपट को सिर पर रखता है। किन्तु सिर के ऊपर करारा काल

मंडरा रहा है इसको आंख से देखते हुए भी नहीं दीखता है। जन्म बुढापे को क्रम से आते देख कर भी विपत्ति व मृत्यु को देखता नहीं है भय का लेश नहीं और हृदय में उजियारा नहीं, इस प्रकार सभी ज्ञान निरर्थक जाते हैं, प्रमाद के प्रताप से मोहरूप मद्य को पान कर यह दुनिया मदमाती सी हो रही है। जिस विषय-विलास को बहुत काल से गह रखा है यह विभव विलास तुम्हें तज कर जायगा इसमें कुछ भी देर नहीं होगी, संसार की सारी चीजों का वियोग होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस स्थिति में तो उचित है कि हम इन्हें पहले ही छोड दें। अन्यथा जिस दिन ये विषय स्वयं छोड चलेंगे तब महान पश्चाताप होगा। महात्माओं का यह उपदेश है कि अगर यह जीव आदि से ही इन विषय विकारों को तजे और भगवान को भजे तो अन्त में इस अनन्त काल में अनन्त सुख भागी बने यह सत्य है।

इस प्रकार के उपदेश को सुनकर परिषदा चली गई। एकान्त में इन तीनों को पाकर गुरु जी ने मन की बात पूछी, इन तीनों न सारी बात अपनी अर्ज करदी। साफ कहा कि हम तीनों भव के भय से भीत बने आपकी शरण में आश्रय लेना चाहते हैं। इस पर सदगुरु ने फरमाया कि हे देवानुप्रिय! आप लोगों का यह विचार तथ्य तथा पथ्य है। बाद में आप तीनों ने आलस्य प्रमाद को हटाकर साधुता की सारी रीति जान ली। श्रावकों ने मिलकर दीक्षा की पूरी तैयारी की। सं० १८९४ कातिक शु० १३ के दिन पाली नगरी में आप तीनों ने दीक्षा ली। चोमासा उतरने पर ठा० से उग्र विहार करते हुए पालासनी पधारे। उधर पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी महाराज चातुर्मास के अन्त में जोधपुर से विहार कर अनेक भव्य जीवों को सद्बोध देते हुए पालासनी पधारे। सन्तों को परस्पर मिलने से परमानन्द हुआ। भव्य जीवों के प्रति बोध के लिए पूज्य श्री ने अद्भुत असर कारक अनुपम व्याख्यान दिया, मानो अज्ञान रूप अग्नि से झुलसते हुए भक्त के हृदयों पर जलधर ने अमृत धारा बरसा दी।

मुनि नन्दरामजी महाराज की भी व्याख्यान-कला बहुत बढ गई। आपके व्याख्यान को सुनकर लोग दंग रह जाते, आपन तीन चातुर्मास पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी महाराज की सेवा में रहकर किये। और चार चातुर्मास पूज्य श्री हम्मीरमलजी महाराज साहब के साथ किये। तथा सात चातुर्मास पूज्य श्री कजोडीमलजी महाराज के साथ किये। और पांच चातुर्मास कनीरामजी महाराज के साथ किये। इन चातुर्मासों के सिलसिले में आगम का अभ्यास जारी रहा, आप विकथा से अलग रहकर सौ सौ गाथायें प्रतिदिन अभ्यस्त कर लेते थे। आपकी बुद्धि बडी तीव्र थी, और बुद्धि के साथ ही आप में परिश्रम करने की शक्ति भी भरपूर थी। डेढ सौ थोकडा आपको मुख पाठ थे। गुरु आज्ञा को शिरोधार्य करते हुये भक्ति और विनय से आगम, अंग-उपांग मूल, छेद

आदि आपनें कण्ठस्थ कर लिए। केवली भाषित सूत्रों के अनुसार अनेक जीवो के हृदयों में आपने सम्यक्त्व का संचार किया। आप लेखन कला मे परम प्रवीण थे, आपके अक्षर इतने सुन्दर थे कि मानों मुक्ताफल सजकर समान पंक्तियों मे रक्खे गये हों, पढने वालो को कहीं सन्देह का अवसर नहीं मिलता, अर्थानुसन्धान आपोआप हो जाता, अक्षरों की सुन्दरता पढने वालों की आंखों को अपनी ओर खींच सी लेती थी। चन्द्र-प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति आदि अनेक सूत्र अनेक स्तवन यन्त्र आदि आपके लिखे हुए हैं, जिन्हें देखकर दर्शकों के हृदय कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं, व्याकरण में सारस्वत चन्द्रिका, प्राकृत व्याकरण सार आदि ग्रन्थ अपने हाथ से लिखकर अभ्यास किये थे, अनेकों स्तवन चोढालया, चोपियां तथा अनेक फुटकर पत्र, नवतत्व, थोकडा लिखकर विवेक से धारण किये थे टब्बा, टीका, दीपिका, अवचूरी आदि वहुत शुद्ध उच्चारण के साथ बांचते थे, आपकी वाणी वहुत मीठी थी। एक श्री भगवती सूत्र को ही प्रमाद-रहित होकर ११ वार आदि से अन्त तक पढ गए थे। कठिन से कठिन सूत्र को आप इस प्रकार भिन्न भिन्न कर समझाते थे कि सभी नर-नारी समझ लेते थे। आपकी पंडिताई झलकती नहीं थी, क्योंकि आपके हृदय से गंभीरता झलकती थी, प्रकृति से परम भद्रिक थे। ऐसे सन्त किसके वन्दनीय नहीं हैं ?

अनेक अतिशय सम्पन्न आत्म भावना को भाते हुए परम ज्ञानी आप भूतल में विचरने लगे, मुनि श्री नन्दरामजी महाराज वृक्ष के लिए सरोवर और बादल के समान भव्य जीवों के परमोपकारी थे। चन्द्रमा के समान सुशीतल आपके मुख को देखते ही लोगों के मन में प्रीति उपजती थी, अनेक स्थानों में आपका अन्यमतियों से शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें कि आपने उनके प्रश्नों के उत्तर देकर पाखण्ड मत का निराकरण किया। अपनी उत्पात वुद्धि से अनेक दुर्जयवादियों को जीते थे। आपने भव्य जीवों के उपकारार्थ दिल्ली, किशनगढ, राणीपुर, वीकानेर, हरसोल व आदि क्षेत्रों में एक २ चातुर्मास किया, औव ग्राम, कोटा, रींया इन क्षेत्रों में दो दो चातुर्मास किए, । जयपुर और अजमेर में आठ २ चातुर्मास किए। पाली और बडलू में चार ४ तथा पीपाड में ३ और नागौर क्षेत्र में १५ और जोधपुर में ५ इस प्रकार आपने ५६ चातुर्मास किए थे, जिस जिस क्षेत्र में आपने चातुर्मास किया उस उस क्षेत्र में आपकी कीर्ति कोमुदि फैल जाती थी। अनेक नगर ग्रामों में उग्र विहार कर दयाधर्म का प्रचार किया और शासन दिपाया, आखिर जव आपको शरीर की शक्ति घटती हुई दिख पडी तव आप अजमेर में स्थिरवास विराजने लगे।

सम्वत् १९५० चैत्र शु० ५ में आपने उपवास किया, पारणा के दिन आहार नहीं किया गया, इसके समीप में आयु टूटती हुई समझ पडी, सप्तमी तिथि से

आं विल तप शुरू किया। अष्टमी तिथि में उत्तम असरकारक व्याख्यान दिया, नवमी को औषधि दी गई किन्तु आपने ली नहीं, पास में रहने वाले मुनियों से फरमाया कि अबतो संथारा करना योग्य है। आप लोग हमे खाली क्यों भेज रहे है! एकादशी तिथि में श्रावकों ने अर्ज की कि स्वामिन ! इस समय आपको अनशन करने का समय नहीं है ? आप भवि जीवों को तार रहे है और आत्म कार्य भी सार रहे हैं। इस समय आप चारों तीर्थ के अवलम्ब हैं आप श्रुतज्ञानादि का साहारा दे रहे है, इस क्षेत्र का अहो भाग्य है कि आप जैसे सत्पुरुषों का विराजना हो रहा है। आपका दर्शन ऐसा असरकारक है कि दर्शन करते ही धर्मानुराग प्रकट हो जाता है। इस पर आपने फरमाया कि सर्वज्ञ ने जिस भाव को देखा है उसे कौन टाल सकता है। अबतो हमारे हृदय में अतिशय उत्साह उमड़ रहा है कि संयम रूप मन्दिर पर कलस चढाना चाहिए। क्योंकि आगम में साफ लिखा है कि जो जीव जिन वचन को नहीं जानते और नहीं मानते वे जीव बालमरण के और अकाम मरण के भागी अनेक बार बनते है। द्वादसी तिथि मे अरिहन्त सिद्धि की साक्षी में विविधपूर्वक सभी जीवों से खमत खमावणा की तथा सविधि आलोचना की। १३ तिथि में मुनिजी ने साफ कह दिया कि मैंने तो यावज्जीवन के लिए चतुर्विध्रि आहार का त्याग कर दिया। इसप्रकार आपके अनशन व्रत की खबर समस्तशहर में फैल गई। सभी ने आपको धन्यवाद दिया। और दर्शन करने को सभी नगर निवासी आने लगे। चैत्र पूर्णमासी के दिन ११ बज कर ३५ मिनट पर स्वांस प्रकोप बढ जाने से तत्काल शरीर और प्राणों मे वियोग हो गया। बाईस प्रहर का संथारा पालकर आपका स्वर्गवास हो गया। बाद में श्रावक लोगों ने परम आडम्बर से वैकुण्ठी महोत्सव किया। रुपए पैसे खूब उछाले गए। सभी के धर्म में स्नेह, मन में उदासी और नेत्र में आंसू उस समय मे दिख पडते थे इसी दशा से सभी ने निखालिस चन्दन में दाह किया।

पूज्य श्री कजोड़ीमलजी महाराज

स जातो येन जातेन याति वंश समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे, मृतकः को वा न जायते ॥

शुभ जन्म

आर्यावर्त्त में मरुधर भूमि धन-वैभव की दृष्टि से विख्यात है। इस प्रसिद्ध प्रान्त में किशनगढ नाम का एक सुन्दर नगर है। वहां ओशवाल वंशीय शम्भूमल्लजी नाम के सदगृहस्थ निवासी करते थे। आपके वदना जी नाम की पतिव्रता

धर्मपत्नी थीं । इन्हीं माता वदनाजी की पवित्र कूंख से हमारे चरित्र नायक का जन्म हुआ था ।

वैसे तो बालक निसर्ग का सुन्दर उपहार होने से स्वभावतः ही सुन्दर और प्रिय लगता है, इसपर भी विशेष पुण्य-सामग्री लेकर आए हुए बालकों की मन-भावनी मोहकता का तो कहना ही क्या ! आप कुछ ऐसी ही विशिष्ठ रूप सम्पदा के धनी थे कि जिसके कारण आप प्रत्येक को प्रिय लगते थे । आपकी मुख मुद्रा से होनहारता के लक्षण स्पष्ट प्रतीत होते थे । बुद्धि की कुशाग्रता तो आपकी जन्मजात विशेषता थी ।

माता-पिता का वियोग

संसार का नियम है कि प्रत्येक प्राणी को चाहे राजा हो या रंक, सज्जन महात्मा हो अथवा दुरात्मा सभी को अपने सञ्चित शुभा-शुभ कर्म का फल भोगना ही पडता है । बहुत सी बार निर्दोष दिखने वाले अबोध बालक भी कर्म के शिकार दिख पडते हैं, भले ही वर्तमान में कोई पाप कर्म उनके दृष्टि गोचर नहीं होते हों किन्तु वे सञ्चित अवश्य होते हैं और जिस तरह के शुभाशुभ कर्म मनुष्य के जीवन में सञ्चित होते हैं उसी तरह के संयोग भी सामने आकर उप-स्थित हो जाते हैं । उन संयोगो के अनुसार उसका जीवन बनता है। अस्तु ! आठ वर्ष की कोमल अवस्था में ही हमारे चरित्र नायक के माता पिता-दोनों का स्वर्गवास हो गया । एक किशोर वय के बालक पर (कुदरत का) कितना भीषण वज्राघात ? मगर संचित कर्मों को यही इष्ट था । शायद कर्मदशा आपको बचपन से ही स्वावलम्बन का सबक सिखाना चाहती थी इसलिए मातापिता की आराम-मय गोद से आपको वञ्चित कर दिया । समझना चाहिए कि पुरातन-पावन पथ में प्रवेश करने का यह प्राकृतिक संकेत था !

धर्मरुचि

माता पिता के स्वर्गवासी हो जाने के पश्चात प्रसंग पाकर आप अजमेर आ गए । धीरे धीरे अवस्था के बढने के साथ ही साथ बुद्धि की कुशलता और पुरुषार्थ से आप स्वयं जीवन निर्वाह के लिए व्यापार करने लगे। कालान्तर मे किसी पुण्य-प्रसंग से आपको मुनि श्री भेरुमल्लजी महाराज के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मुनि श्री के दर्शन और उनकी हित-मित और ओजस्वी वाणी से आपकी धर्म की ओर विशेष अभिरुचि हो गई । धार्मिक क्रियाओं की ओर आपका आकर्षण हो गया और आपने मुनि श्री से सामायिक प्रतिक्रमण सूत्र का अभ्यास करना भी

प्रारम्भ कर दिया। बुद्धि की तीव्रता के कारण आपने शीघ्र ही इनका अभ्यास पूर्ण कर लिया।

शनैः शनैः धर्म की और ज्यों ज्यों आपका झुकाव होता गया त्यों २ सांसारिक विषयों से आपको वैराग्य होने लगा। पुद्‌गलों से ममत्व हटा कर आत्मा के स्वरूप में रमण करने की भावना जागृत हो उठी। आपने रात्रि में किसी प्रकार का आहार पानी न करने और हरी-वनस्पति न खाने के नियम ले लिए। इस प्रकार व्रत नियमों का पालन करते हुए आप अच्छासा धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगे। आपकी धर्मरुचि वर्धमान थी।

आचार्य श्री का पदार्पण और उपदेश

संयोगवश पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी महाराज अपने शिष्य समुदाय के साथ विहार क्रम से विचरते एए अजमेर पधारे। पूज्य श्री के शुभागमन से नगर के नरनारी हर्षित होकर दर्शन के लिए आने लगे। नरनारियों की विशाल मेदीनी पूज्य श्री का उपदेश सुनने के लिए एकत्रित हो गई। पूज्य श्री ने केसरीसिंह की भांति धीर-गम्भीर ध्वनि से मानव मेदिनी को उपदेश देना प्रारभ किया जिसका सार यह है:—

संसार का प्राणी मात्र सुख का अभिलाषी है। सब प्राणी सुख को प्राप्त करने के लिए विविध-प्रवृत्तियों में संलग्न रहते हैं। सुख की खोज करना हर एक का उद्देश्य है। छोटे से छोटे कीट-पतंग से लेकर स्वर्ग के इन्द्र तक सुख के लिए तिलमिलाते हैं लेकिन उन्हें सुख नहीं प्राप्त होता है। ज्यों ज्यों प्राणी सुख के पीछे भागते हैं त्यों त्यों सुख दूर भागता जाता है। अपनी परछांई को पकडने के लिए मनुष्य जोर से भागते हैं, मगर ज्यों ज्यों जितनी तीव्रता से वे भागते हैं त्यों त्यों उतनी ही तीव्रता से परछांई भी आगे भागती जाती है। वह हाथ नहीं आती। मनुष्य उसे पकडने के लिए हैरान हो रहे हैं मगर वह पकड में नहीं आती। ठीक इसी तरह दुनियां सुख के पीछे भाग रही है मगर वह उसके हाथ नहीं आता। दुनियां हैरान है—सुख पाने के लिए मगर सुख की छाया के भी दर्शन नहीं होते।

बाहर से सुखी दिखाई देने वाले राजा महाराजाओं से पूछो कि क्या वे सुखी है? विशाल अट्टालिकाओं में, धन वैभव के विविध राच-रचीलों में ऐशो आराम करने वालों से पूछो कि क्या उनकी आत्मा को सुख-शान्ति है? करोड़ों

और अरबों का व्यवसाय करने वाले व्यवसायी से पूछो कि "तुमने सुख की झलक कभी देखी है ?" करोड़पति और अरब पति धन-कुवेरों से पूछो कि इतना धन बटोरने पर भी क्या उन्हें सुख मिल गया है ? अगर सब अपनी छाती पर हाथ देकर जवाब देंगे तो उन सबका का उत्तर होगा—"नहीं ! नहीं !! नहीं !!!

आखिर पहाड के समान विकट प्रश्न सामने खडा है कि सुख कहां है ?

परम दयामय जिनेश्वर देव ने इस विकट प्रश्न का-जिसने दुनियां को परेशान कर रखा है—बडा सुगम समाधान किया है । उन्होंने बताया है कि हे सुख के चाहने वालो ! परछाई को पकडने के लिए भागने वाले इन्सान की तरह सुख के पीछे दौडकर हैरान और परेशान मत बनो । सुख बाहर नहीं है । बाहर ढूंढने से सुख नहीं मिल सकता है । बाहर दौडना बन्द करो । सुख तुम्हारे ही अन्दर है। सुख तुम्हारी ही परछाई है । उसे पकडने के लिए बाहर भागने की आवश्यकता नहीं है । अपने मनको पकडलो, बस, परछाईं अपने आप तुम्हारे हाथ आजावेगी । तुम स्वयं सुख के केन्द्र हो । आत्मा में अनन्त सुख का स्रोत बह रहा है उसका आनन्द उठालो । आत्मा में रमण करना सीखो । यही परम और चरम सुख है । शास्त्र में कहा है कि "अप्पाण मेव अप्पाणं, जिणित्ता सुह मेहए" उत्त०

जब तक आप सुख के इस स्वरूप को नहीं समझेंगे तब तक वास्तविक सुख और शान्ति का प्राप्त होना असम्भव है । लाख दौड धाम कर लीजीये, इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं सुख नहीं मिल सकता । दुनियां इस स्वरूप को भूल रही है इसीलिए दुख, अशान्ति, जन्म, जरा, रोग, और मृत्यु आदि उसे घेरे रहते हैं ।

दुनियां बाहर से सुख पाना चाहती है । भला, यह कैसे हो सकता है ? जो चीज जहां नहीं है वह वहां कैसे मिल सकती है ? लाख प्रयत्न करने पर भी बालुका (रेत) से कहीं तेल निकल सकता है ? बान्धवो ! बाह्य पदार्थों में सुख नहीं है। उनसे सुख की आशा छोडो और सुख के केन्द्र रूप आत्मा में विचरण करो। जितने अंशों में विषयवासना से बाह्य पदार्थों से—आप परांङमुख बनेंगें उतने ही अंशों में आप आत्मा के नजदीक पहुंचेगे और सुख के भागी बनेंगे। तथा ज्यों ज्यों आप बाह्य पदार्थों में फंसते जावेंगे त्यों त्यों सुख से दूर होते जावेंगे । अतः यदि सुख की कामना है तो वीतराग भगवान के द्वारा बताये हुए मार्ग का अवलम्बन लीजिए, बाह्य पदार्थों से ममता हटाइए और संयम मय जीवन जीकर मिले हुए मानव जीवन का लाभ उठाइए । वही निर्भय सुख का स्थान है । जैसे भर्तृहरि ने भी कहा है—

"भोगे रोग भयं, कुलेच्युति भयं, वित्ते नृपालाद् भयं,
माने दैन्यभयं बले रिपु भयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वाद भयं, गुणे खलभयं, काये कृतान्ताद् भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां, वैराग्यमेवाऽभयम् ॥

भोग में रोग का भय, उच्च कुल में गिरने का भय, धन मे राजा आदि का भय, और मान मे दीनता का भय है, बल को शत्रु का भय तथा रूप में वृद्ध हो जाने का भय है । शास्त्र में वाद और गुण में दुर्जन का भय है । शरीर को मृत्यु का भय है । संसार की सभी वस्तुओं से भय है केवल वैराग्य ही निर्भय पद है ।

इसलिए जो व्यक्ति इस क्षणभंगुर जीवन मे कमल-पत्र पर पडे हुए जल बिन्दु के समान मनोहर लगने वाले। मगर सारशून्य विषय सुख को त्यागकर संयम और व्रतमय जीवन जीता है वह अक्षय सुख का भागी होता है ।

आपको यह अनमोल अवसर मिला है । चौरासी लाख जीव योनियों मे से मानव योनि ही ऐसी है जिसमे आत्मस्वरूप को समझ कर सच्चा सुख प्राप्त किया जा सकता है । अतएव आप यह अवसर न चूकें और कल्याण मार्ग के पथिक बनें ।"

वैराग्य और दीक्षा

पूज्य श्री के मुखार विन्द से निकली हुई इस उपदेश-धारा ने श्री कजोडीमल्लजी के हृदय में रहे हुए वैराग्य के बीज को अंकुरित और पल्लवित कर दिया । आपका चित्त संसार से एकदम विरक्त हो गया और आपने उसी समय खडे होकर पूज्य श्री से नम्र प्रार्थना की कि---

हे कृपासिन्धो ! दीन बन्धो ! आप तरण--तारण हैं । मेरी आत्मा इन दुःखों को सहन करते करते ऊब गई है, अतएव अब कृपा कर मुझे उबार लीजिए मैं अब इस अवस्था में अधिक दिन तक नहीं रहना चाहता । मुझे आपके चरणों में शरण दीजिए । मुझे भागवती दीक्षा देकर पावन कीजिए ।"

आपकी ऐसी प्रार्थना को सुनकर पूज्य श्री ने फरमाया-"भाई, तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा । अभी थोडे समय तक संयम आराधना की भूमिका के रूप मे

जीव-दया की साधना करो।" यह सुनकर अपने आत्महित की कामना से जीव-दया की साधना के लिए जीवन भर के लिए आरम्भ (जीव हिंसा) न करने का नियम ले लिया। तथा इस नियम की परिपालना करते हुए आप निर्मल जीवन विताने लगे।

त्याग और राग में विरोध होता ही है। आपके इन विचारों के कारण आपके वन्धु-बान्धवों ने दीक्षा के विरुद्ध प्रपन्च फैलाना शुरु कर दिया। 'श्रेयांसि वहुविघ्नानि,' अर्थात श्रेष्ठ कामों में प्रायः विघ्न वाधाऐं होती हैं। इस उक्ति के अनुसार कचहरी तक पहुँच कर उन लोगों ने आपकी दीक्षा रोकने का प्रपन्च किया परन्तु जिस व्यक्ति की तीव्र भावना होती है उसे कौन कव तक रोक सकता है?

आपने निश्चल भाव और शान्ति से विरोध का मुकावला किया। न्यायाधीश को भी आपकी दृढता देखकर अनुमति प्रदान करनी पडी। परिणामस्वरूप संवत् १८८७ में माघ शुक्ला ७ के दिन रियां के सेठ रामदासजी की हवेली से निकल कर दौलत वाग, अजमेर में आम्र वृक्ष के नीचे आपने वडे समारोह के साथ भावपूर्वक दीक्षा धारण की।

आचार्य श्री के कर-कमल से भागवती दीक्षा की आराधना का सौभाग्य पाकर इस दिन को आपने अपने जीवन का सवसे अधिक महत्वपूर्ण दिन समझा। दीक्षा धारण करने के वाद अजमेर से विहार होने पर आप साधु-समाचारी की शिक्षा लेने के लिए पूज्य श्री की सेवा में ही रहने लगे।

विहार-क्रम से वडी रीयां पहुँच कर विशाल वट वृक्ष के नीचेआपकी वडी दीक्षा हुई अर्थात् आपने छेदोपस्थापनीय चारित्र स्वीकार किया।

शिक्षण और संयम की साधना

दीक्षा के दिन से ही आपने सिद्धान्तों का शिक्षण आरम्भ कर दिया। आपकी तीक्ष्ण बुद्धि के विषय में तो पहले लिखा जा चुका है कि यह आपकी जन्म-जात विशेषता थी अतएव कुशाग्र बुद्धि के कारण आपने थोडे ही समय में सिद्धान्तों का अध्ययन कर लिया। पूज्य श्री ने आपको अपने परम-कृपा पात्र एवं गुणश्रेष्ठ ज्येष्ठ शिष्य मुनि श्री हम्मीरमलजी म० सा. के नेश्राय में रख दिए।

मुनि श्री के नेश्राय में रहकर आपने अपनी योग्यता का अच्छा विकास किया। थोडे ही काल की साधना से आप में ऐसी शक्ति पैदा हो गई कि मुनि श्री ने आपको स्वतन्त्र रूप से विहार कर धर्म-जागृति करने की आज्ञा प्रदान करदी।

गुरुदेव की आज्ञानुसार आपने छः चातुर्मास स्वतन्त्र किये। इस काल में आपकी योग्यता और उपदेश प्रणाली की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। आपकी प्रभावोत्पादक वाणी से जैन धर्म की प्रभावना होने लगी। अनेक व्यक्तियों ने आपके उपदेश से मद्य मांस के सेवन का त्याग किया और जैन धर्म के अनुरागी बने।

आप संयम के नियमों का बडी उग्रता के साथ पालन करते थे। आप एक ही चादर से शीत, उष्ण और वर्षाकाल बिताते थे। आप अपना समय ज्ञान दर्शन और चारित्र की निर्मल आराधना में ही व्यतीत करते थे। तात्पर्य यह है कि आपने अपनी दीक्षा के प्रारम्भिक वर्षों में ही ऐसी योग्यता सम्पादन की और ऐसी प्रतिभा का परिचय दिया कि जिसके कारण आगे चलकर आप ही गच्छ के नायक बनाये गए।

कतिपय विशेषताएं और आचार्य पद

आपकी शारीरिक कान्ति बडी अनुपम थी। मानो वह आपके आत्मिक तेज की झांकी रूप थी। आप वर्ण से गौर और कद से लम्बे एवं सुडौल थे। आपकी भव्य मुखाकृति बडी प्रभावोत्पादक थी। उसमें केहरी से तेजस्वी नेत्र अपनी अनोखी छटा दिखा रहे थे। आपकी मुख-मुद्रा पर सूर्य की भांति तेजस्विता चमकती थी। आपकी वाणी में घन-गर्जना सी गम्भीरता और अनोखी आकर्षकता थी। आपके व्यक्तित्व और तपस्तेज के कारण आपके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था।

पूज्य श्री हम्मीरमल्लजी महाराज के स्वर्गवास हो जाने पर चतुर्विध श्री संघ ने आचार्य की नियुक्ति के लिए विचार विनिमय करना आरम्भ किया। उस समय सम्प्रदाय के संचालन और संरक्षण की शक्ति, आगमों की अभिज्ञता, विद्वता, शारीरिक सम्पदा और प्रतिभा योग्यता आदि सब दृष्टियों से आप ही आचार्य पद के योग्य समझे गये। सबने एक मत से आपको ही पूज्य-पदवी प्रदान करने का निर्णय किया।

उस निर्णय के अनुसार सम्वत् १९१० माघ शुक्ला पञ्चमी को शुभ लग्न में २४ साधु साध्वियों और हजारों श्रावक श्राविकाओं की उपस्थिति मे बडे समारोह के साथ आपको आचार्य पदवी प्रदान की गई। आप पूज्य श्री हम्मीरमल्लजी म० के पाट पर विराजमान हुए। आप पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी म० के तृतीय पट्टधर प्रभावक आचार्य हुए। उस समय दयाधर्म की बडी प्रभावना और आराधना हुई।

आचार्य-पद को अंगीकार करके आप अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए तथा जिनमार्ग की प्रभावना करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे। आपकेसंयम पाण्डित्य और तप का इतना तीव्र तेज था कि वक्रवचनी और कुटिल बुद्धि कुतर्कियों को भी आपसे कुतर्क करने की हिम्मत नहीं होती थी। सचमुच तप के तेज में इतना प्रभाव होता है कि उसका परिचय दर्शकों को स्वतः हो जाता है। उसके लिए किसी तरह के वाह्य प्रचार और आडम्बर की जरूरत नहीं होती पाखण्डियों का पाखण्ड सच्चे तप के सामने उसी तरह दूर हो जाता है जैसे सूर्य के सामने अन्धकार। आपने अपने व्यक्तित्व और प्रतिभा के कारण धर्म का बहुत प्रचार किया। अनेक प्राणियों ने आपके उपदेश से सन्मार्ग का आश्रय लिया।

शासन काल और मुनि दीक्षा

पूज्य श्री ने २६ वर्ष तक बडी कुशलता पूर्वक सम्प्रदाय का संचालन किया। खेद की बात है कि आपके शासन काल में घटित सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख नहीं किया जा सकता है क्योंकि उनको बताने वाली क्रमवार ऐतिहासिक सामग्री अभी उपलब्ध नहीं होती। ऐसा होते हुए भी सम्प्रदाय के उत्साही सन्तों द्वारा लिखे हुए ग्रन्थों में यत्र तत्र मिलने वाली सामग्री के आधार से कुछ परिचय दिया जाता है। २६ वर्ष के आपके शासन काल में १३ मुनियों की खास दीक्षा हुई। साध्विओं के दीक्षा के आँकडे नहीं मिलते। मुनि दीक्षा का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

आप जब से आचार्य पद पर विराजमान हुए तब से अनेक आत्माओं ने आपके पास दीक्षा धारण की। संवत् १९११ में श्री राजमलजी ने आपके समीप दीक्षा ली। कारण विशेष से ये पूज्य श्री से जुदे हो गए और मालवा में पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी म० की सम्प्रदाय में जा मिले। आज भी उनकी परम्परा के साधु पूज्य श्री मुन्नीलालजी महाराज की सम्प्रदाय के अन्तर्गत मालवा में विचरते हैं।

सम्वत् १९१२ में फलौदी निवासी श्री विनयचन्द्र जी और कस्तूरचन्दजी दोनों भाइयों ने पूज्य श्री के वैराग्यमय अमोध वचन से आकर्षित होकर दीक्षा धारण की। इन दोनों बन्धुओं की बुद्धि बडी तीव्र थी मुनि श्री विनयचन्जी म० की प्रतिभा और स्मरण शक्ति तो बडी ही असाधारण थी इसलिए आगे चलकर वे सम्प्रदाय के आचार्य बने।

सम्वत् १९१३ मे श्री मंगलसेनजी ने पाली मे आपसे दीक्षा ली। सं० १९१५ में रतनगढ निवासी नवलमलजी ने भी दीक्षा धारण की संवत १९१६ में

छीतरमलजी ने चारित्र स्वीकार किया । सं० १९१९ में जसराजजी ने आपसे दीक्षा ली । इसी साल पंजाब के रहने वाले बालचन्द्रजी ने दीक्षा ली । आप तपस्वी थे । आपकी वचन सिद्धि को देख कर जैन जैनेतर सब चकित रह जाते थे । आप मुनि श्री मेघराजजी म० के नेश्राय में किए गए ।

सम्वत् १९२० में श्री चन्दनमल्लजी ने पूज्य श्री से चारित्र मार्ग अंगीकार किया । आप पीपाड के पास रीयां ग्राम के निवासी थे । दीक्षा लेने के बाद आपने गहरा ज्ञानाभ्यास किया । आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी । आप श्री मेघराजजी म० के शिष्य थे । दोनों मुनिवरों का जीवन परिचय पाठक आगे पढेंगे । इसी वर्ष कोसाना निवासी श्री मुल्तानचन्दजी ने पूज्य श्री के पास दीक्षा ली । आपको संस्कृत भाषा का अच्छा बोध था । दुर्भाग्य से अल्पवय में ही आपका स्वर्गवास हो गया । आप एक होनहार साधु थे । आपसे समाज को बडी बडी आशाएं थी परन्तु दुःख है कि वे पूरी न हो सकीं ।

सम्वत १९२७ में श्री खींवराजजी ने दीक्षा धारण की । आप मुनि श्री चन्दनमल्लजी महाराज के नेश्राय में शिष्य बने थे । इसी वर्ष जोधपुर निवासी श्री शोभाचन्द्रजी ने पूज्य श्री के पास दीक्षा धारण की । आगे चलकर आपने आचार्य पद को अलंकृत किया । आपका विशेष परिचय आगे स्वतन्त्र रूप से दिया जावेगा । १९२२ से ३६ तक के दीक्षा का पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं है । फिर भी पाठक आपके पुण्य और वचन बल का इससे परिचय पा सकते हैं ।

पूज्य श्री के चातुर्मास

पूज्य श्री ने अर्ध शताब्दी पर्यन्त संयमी-जीवन की साधना की । आपने विभिन्न क्षेत्रों में ४९ चातुर्मास करके धर्म की ज्योति को प्रज्वलित की । आपने बीकानेर में एक, रीयां में एक, पाली में पांच किशनगढ में दो, जयपुर में छः, जोधपुर में दस, नागौर में तेरह और अजमेर में ग्यारह चातुर्मास किये । इतने काल तक आपने निर्मल संयम की आराधना की और शासन की प्रभावना की । आपने अपने संयमी जीवन में आत्म कल्याण की साधना के लिए किञ्चित भी कमी न होने दी । आपके सद्धर्म-प्रचार से दया धर्म रूपी कल्पवृक्ष खूब फला फूला और उसकी शीतल छाया में अनेक प्राणियों ने सुख- शान्ति का आस्वादन किया । आपका विहार क्षेत्र अधिकता से मारवाड रहा है । और बीकानेर जोधपुर और जयपुर के बीच ही आपके चातुर्मास हुए हैं फिर भी दिल्ली, कोटा आदि की ओर आपने शेष काल विचर कर धर्म प्रचार किया था ।

रोग का आक्रमण और अन्तिम झांकी

संवत् १९३३ का चातुर्मास करने के लिए पूज्य श्री अजमेर पधारे। इस चातुर्मास में आपके शरीर पर रोग का आक्रमण हुआ। औषधोपचार के होने पर भी शान्ति न हो सकी। शारीरिक अस्वस्थता के कारण चातुर्मास की समाप्ति होने पर भी विहार न हो सका। व्याधि उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। संवत् १९३४ में जब शारीरिक वेदना अधिक बढ़ गई तब श्रद्धालु श्रावक जनों ने श्रद्धा और भक्ति से प्रेरित होकर अनेक वैद्य और हकीमों के उपचार करवाये लेकिन कोई कारगर नहीं हुआ।

पूज्य श्री शान्ति के साथ वेदना सहन करते रहे। श्रद्धालु भक्तजन जब आपके सामने आपकी व्याधि के लिए संवेदना प्रकट करते तब आप फरमाया करते कि दुखी न बनो। प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्वसंचित कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। इसे शान्ति के साथ सहन करने से ही वास्तविक शान्ति मिल सकती है। कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। संचित कर्म बड़े बलवान हैं। वे बड़े से बड़े व्यक्ति को भी नहीं छोड़ते। उदय-प्राप्त कर्मों को शान्ति और सहनशीलता से भोगना और अनुदित कर्मों को तप के द्वारा क्षीण करना यही सच्ची शान्ति का अक्सीर उपाय है। इसी से आत्मा हल्की होती है।

शारीरिक असमाधि होने पर भी पूज्य श्री का आत्म बल अन्त तक ऐसा ही दृढ़ बना रहा। रोग-ग्रस्त होने पर भी आप अनेक प्रकार की तपश्चर्या के द्वारा कर्म-दलिकों को क्षीण करते रहे। तप की अग्नि में कर्म रूपी इन्धन को जलाते हुए आप आत्मिक शान्ति का अनुभव करते थे। इस अवस्था में आपको लगभग तीन वर्ष व्यतीत हो गये।

संवत् १९३६ में वैशाख शुक्ला २ को पूज्य श्री के पेट में भयंकर दर्द होने लगा। दर्द की भयकरता और तीव्रता से पूज्य श्री ने समझ लिया कि अब अन्तिम समय आगया है। आपने साधुओं के समक्ष मूल और उत्तर गुण में लगने वाले दोषों की आलोचना की और आलोचना के द्वारा परम विशुद्ध होकर पंच परमेष्ठी को बन्दन करके सभी जीवों से क्षमा याचना की। शारीरिक पीड़ा की उग्रता होन पर भी आत्म-बल की दृढ़ता के कारण आप समभाव पूर्वक रोग परीषह को सहन करते रहे। इस अवस्था में भी आपके बदन पर शान्ति झलकती थी। शुभभावना और पवित्र अध्यवसायों के साथ आप काल व्यतीत करते रहे।

अन्त में वैशाख शुक्ला तीज को मध्यान्ह में श्रावकगण एकत्रित हुए। विचार विनीमय करके पूज्य श्री ने संथारा करने का निर्णय किया। तदनुसार संथारे की विधि करते हुए पूर्ण उपयोग पूर्वक अनशन विधि का उच्चारण करते हुए पूज्य श्री के प्राण परलोक के लिए प्रयाण कर गये। मानों वे संथारे की विधि में पूर्णता की ही प्रतीक्षा कर रहे थे, जो उसकी पूर्णता के साथ ही साथ एक दम प्रयाण करगये।

पूज्य श्री के स्वर्गवास से सर्वत्र शोक के बादल छा गये। जिसने यह हृदय विदारक बात सुनी वह अवाक् सा रह गया। एक धर्म धुरन्धर, प्रखर उपदेशक सन्मार्ग प्रदर्शक, समर्थ आचार्य के देहावसान से जैन समाज की महती क्षति हुई। सबको अपार दुख हुआ, मगर किया क्या जाय? संसार है मरण-धर्मा और काल है अविवेकी। जन्म के साथ और संयोग के साथ वियोग लगा ही है। यह समझ कर सत्पुरुषों के वियोग का दुख सहन करना ही पड़ता है।

प्रखर चर्चाकर श्री कनीराम जी महाराज

पूज्य श्री कजोड़ीमल जी महाराज के सहायक मुनिराजों में स्वामीजी श्री कनीरामजी महाराज की सविशेष गणना थी। आप पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी म. के बड़े गुरु भ्राता श्री दलीचन्द्र जी महाराज की नेश्राय में थे। पूज्य श्री कजोड़ीमल जी की अपेक्षा भी आप दीक्षा में स्थविर थे। आपने अपनी विद्वत्ता से न केवल अपनी सम्प्रदाय का ही वरन् समस्त जैन समाज का बड़ा भारी उपकार किया है।

आपका संक्षिप्त जीवन इस प्रकार है:—

मरु-धर देश में खींवसर नाम का प्रसिद्ध ग्राम है। वहां कुल मर्यादा के प्रतिपालक सेठ कृष्णदासजी मुणोत निवास करते थे। कुल की आन और शान को प्राणों से भी अधिक समझने वाली "राऊजी" नामक उनकी धर्मपत्नी थी। इन्हीं कुलाचार-सम्पन्न माता पिता से संवत् १८५९ मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को शुभ लग्न में आपका जन्म हुआ। पुत्र का जन्म होने से समस्त परिवार में आनन्द छागया। कुलाचार के अनुसार मंगलाचार तथा अन्य संस्कार होने लगे। बड़े लाड-प्यार से आपका लालन पालन हुआ। आठ वर्ष बड़े आनन्द के साथ व्यतीत हो गये।

आपके संचित संस्कारों को यह आनन्दमय जीवन इष्ट नहीं था इसीलिये उसने आप पर विपत्ति का भयंकर प्रहार किया। आठ वर्ष की कोमल वय में ही आपके

माता पिता का आकस्मिक देहावसान होगया। इस असामयिक देहावसान से आपको असह्य दुख पहुंचा। किन्तु कुदरत का यह कठोर अभिशाप दूसरी दृष्टि से आपके जीवन की दिशा को आमूल बदलने में सहायक हुआ। असमय में आये हुये दुख ने आपको जीवन-विकास के लिए प्रेरणा प्रदान की।

इस बालवय में ही आपको संसार की असारता का परिचय मिल गया। आपका हृदय संसार से विरक्त होगया और आपने दीक्षा धारण करने का निश्चय कर लिया। संयोगवश सं० १८७० में आपको पूज्यश्री दुर्गादासजी महाराज के दर्शन का सौभाग्य मिला। उनके वैराग्यमय अमोघ उपदेश को सुनकर आपका हृदय वैराग्य से ओतप्रोत होगया। आपने सं० १८७० पौष कृष्णा १३ को पूज्य श्री दुर्गादासजी की सेवा में दीक्षा धारण की।

दीक्षा लेने के बाद स्वामीजी श्री दूलीचन्दजी म. की सतत सेवा करते हुए आपने अपनी सहज कुशाग्र बुद्धि से थोडे ही समय में अंगसूत्र और उपांग सूत्रों का अच्छा ज्ञान सम्पादन कर लिया। शब्दों के विविध संग्रह के साथ नय, निक्षेप, प्रमाण आदि का भी सुन्दर बोध प्राप्त किया। सूत्र-सिद्धान्तों का ठोस अध्ययन करके आपने सत्य-धर्म का उद्योत करना आरम्भ किया। आपने अपने ज्ञान के द्वारा जिन-शासन की खूब प्रभावना की। जिन-शासन के नाम पर कोई भी व्यक्ति या पन्थ मनमानी उत्सूत्र प्ररूपणा करे यह आपकी प्रकृति के लिए असह्य था। "जिसको जैसा पसन्द पड़े वैसा बोला करें, इसमें अपना क्या बिगड़ता है" इस प्रकार की उदासीनता आपको पसन्द न थी। ऐसी उदासीन-वृत्ति के आप घोर विरोधी थे। आपकी मान्यता यह थी कि आपस में मिल कर तत्वानुसंधान करो, या तो अपना पक्ष दूसरों को समझा दो, या उसका पक्ष समझ लो किन्तु मनमानी करके सर्वज्ञ प्रणीत आगम पर परवादियों को सन्देह करने का अवसर न दो।"

इस प्रकृति के कारण आपको कई जगह कई बार चर्चा और शास्त्रार्थ करना पड़ता था। आपकी विद्वत्ता और प्रतिभा के कारण चर्चा और शास्त्रार्थ में आप हमेशा विजयी ही हुए। संवत् १८८१ में कालूग्राम में तेरहपंथियों से आपका शास्त्रार्थ हुआ। कई दिन तक चर्चा चलने के बाद दया-दान के विरोधी तेरहपन्थी निग्रह स्थान में आकर पराजित हुए। आप श्री ने जैनागमों के विविध सूत्र के पाठों और युक्तियों से उन्हें सिद्ध कर दिखाया कि "दया और दान" शास्त्रानुमोदित हैं। जो व्यक्ति या पन्थ जीव रक्षा करने में अठारह पापों का सेवन करना मानते हैं, वे उत्सूत्र प्ररूपणा करते हैं। और अनन्त संसार को बढाते हैं। जो लोग जैनागमों के आधार से दया-दान का निषेध करना चाहते हैं वे शास्त्रों के साथ द्रोह करते हैं।

वे ऐसा द्रोह करके अपनी आत्मा को भी धोखा देते हैं और भोलीभाली जनता को भी धोखे में डालते हैं। इस चर्चा में जो मध्यस्थ चुने गये थे उन सब ने स्वामी जी श्रीकनीरामजी की विजय घोषित की।

यद्यपि उक्त शास्त्रार्थ में तेरहपंथियों का मानभंग हो चुका था, तदपि हारा हुआ व्यक्ति विजय की इच्छा से बार बार लडना चाहता है इस उक्ति के अनुसार तेरहपंथियों ने पुनः शास्त्रार्थ करना चाहा। उन्हें यह आशा थी कि इस वार हम अवश्य अपना पक्ष सिद्ध करने में विजयी होवेंगे। इस आशा के बल पर उन्हों ने पुनः शास्त्रार्थ करने की प्रेरणा की।

तदनुसार संवत् १८८५ में पीपाड सिटी में दुवारा शास्त्रार्थ हुआ। स्वामी जी में विजय की कामना तो थी नहीं। अगर विजय की ही अभिलाषा होती तो दुवारा शास्त्रार्थ करना स्वीकार न करते। परन्तु स्वामी जी म. की यह भावना थी कि इस तत्व चर्चा द्वारा तेरहपंथी बन्धु सत्य तत्व को समझें और मनमाने भ्रम पूर्ण सिद्धान्तों का त्याग करें। इसीलिए आपने पुनः चर्चा करना स्वीकार किया। इस चर्चा में भी तेरहपन्थी हारे और भरी सभा में स्वामीजी ने दया दान के विरोधियों की लच्चर दलीलों की धज्जियां उडाई। आपने प्रबल युक्तियों से सिद्ध किया कि दया-दान शास्त्रानुकल है। उनका निषेध करना तीर्थंकर की वाणी का अपमान करना है। स्वामीजी के सचोट वक्तव्य से दया-दान का खूब प्रचार हुआ। हठ वश तेरहपंथियों ने अपना मत तो परिवर्तित नहीं किया किन्तु पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी म० के सन्तों से पुनः कहीं शास्त्रार्थ न करने का आम तौर से निश्चय कर लिया।

इस प्रकार आपकी कीर्ति पूर्णचन्द्र की चांदनी के समान भव्यजनों को आल्हादित करने लगी। संवत् १८९७ में आपने अजियापुर (अजमेर) नगर में चातुर्मास किया। उस समय आपकी विद्वत्ता की ख्याति सुन कर दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान भी चर्चा करने के लिए आये। लगातार दो मास तक प्रतिदिन नियत समय में चर्चा चलती रही। उन विद्वानों को अपनी तर्क चातुरी और वाग्मिता का बड़ा अभिमान था। वे जय-पराजय के उद्देश्य से चर्चा कर रहे थे। मगर आपकी युक्तिसंगत दलीलों और अकाट्य प्रमाणों के आगे उनका अभिमान टिक न सका। उन्हों ने आपकी विद्वत्ता और चर्चा शैली का लोहा माना। उन्हें यह ज्ञात होगया कि श्वे० साधु समाज में भी उनसे बढकर धुरन्धर विद्वान विद्यमान हैं।

इसी समय मूर्त्तिपूजक भाई भी आपसे चर्चा करने के लिए उद्यत हुए। आपने उनकी युक्तियों का खण्डन करके आगम-प्रमाण-पुरस्सर अपने पक्ष का सुन्दर शैली से मण्डन किया। आपके सचोट प्रमाणों के कारण वे भाई निरुत्तर होगए। इस प्रकार आप अपनी प्रतिभा के कारण स्थान स्थान पर शासन की प्रभावना करते हुए धर्म का प्रचार करते थे।

यद्यपि तेरहपन्थी सम्प्रदाय वाले पहले कई वार आपसे चर्चा में पराजित हो चुके थे, तदपि उन्होंने संवत् १९०३ में पुनः शास्त्रार्थ करना चाहा। उन्होंने पाली श्रीसंघ के मार्फत आपको पुनः चुनौती दी। आपने सहर्ष चुनौती स्वीकार की और तीस कोस की दूरी तै करके आप पाली पधारे। चर्चा के नियम नियत हुए और चर्चा प्रारम्भ हुई। कई दिन तक चर्चा होती रही। तेरहपन्थी बन्धुओं को बडी आशा थी कि इस वार तो वे अवश्य ही विजय प्राप्त करेंगे, मगर पहले की तरह इस वार भी उनकी पराजय हुई। आपकी युक्तियों के सामने उनकी युक्तियां टिक नहीं सकीं। इस चर्चा का यह सफल परिणाम हुआ कि सात श्रावकों ने तेरहपन्थी मत का त्याग करके शुद्ध दयामय धर्म स्वीकार किया।

यह पहले लिखा जा चुका है कि आप स्वामीजी श्री दलीचन्दजी महाराज सा० के नेश्राय में रहते थे। श्री दलीचन्दजी म० अपनी वृद्धावस्था और शारीरिक अस्वस्थता के कारण पीपाड में स्थिर-वास के बतौर विराजमान हुए। मुनि श्री कनीरामजी म० भी आपकी सेवा में थे, मुनि श्री में ज्ञान शक्ति इतनी बडी चढी होने पर भी अहंकार की मात्रा अल्प रूप में भी नहीं आ पाई थी। आपने अपने स्थविर गुरुवरों की जो सेवा भक्ति की वह अत्यन्त सराहनीय है। गुरुदेव की सेवा में रहने के कारण लगातार सात वर्ष तक आपको पीपाड में विराजना पडा। इस समय कुचामन निवासी सेठ फतेमलजी साहब मूहणोत ने मुनि श्री से प्रार्थना की कि "आपका ज्ञान उच्च कोटि का है। आपका अनुभव भी विशाल है। आपके इस वहुमूल्य ज्ञान का लाभ अन्य व्यक्ति भी उठा सकें इसके लिए आप यथाशक्ति साहित्य निर्माण करने की कृपा करें।"

सेठजी की प्रार्थना को मान देकर मुनि श्री ने "सिद्धान्त सार" आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में मुनि श्री ने अपने गहन ज्ञान और अनुभव को शब्दों का आकार दिया है। इन ग्रन्थों से आपकी विद्वत्ता स्पष्ट झलकती है। इन ग्रन्थों का निर्माण करके आपने भावी जिज्ञासुओं के लिए उत्तम सामग्री उपस्थित करदी।

तेरहपन्थियों के कुविचारो का खंडन करने के लिए सिद्धान्त सार ही पहला पहल ग्रन्थ है, इसके पहले इस विषय का कोई ग्रन्थ नहीं था। आपका समाज के इस आवश्यक कार्य की पूर्त्ति में प्रथम हाथ है।

संवत् १६१० के मार्गशीर्ष मास में श्री दलीचन्द्रजी म० के शरीर में विशेष असमाधि हो गई। शिथिलता और वेदना उत्तरोत्तर बढने लगी। इस लिए उन्होंने अपना अन्तिम समय जानकर आलोचना की और मार्ग कृष्णा ९ को दिनके ५ बजे संथारा अंगीकार कर लिया। थोडे समय पश्चात आपका स्वर्गारोहण भी होगया।

स्थविर मुनि श्री दलीचन्दजी म० का देहावसान हो जाने के पश्चात् शान्त से स्थविर श्री कनीरामजी म० ने अपनी शिष्य मण्डली के साथ जैनधर्म का उद्योत करने के लिए पीपाड से विहार किया। इस समय रीयां निवासी सेठ हमीरमलजी सा० ने आपसे प्रार्थना की कि "इस समय पंजाब में अजीव पन्थ (नाज पन्थ) के कारण साधुओं में मत भेद ने उग्र रूप धारण कर रखा है, इससे साधु मार्गी धर्म की हानि हो रही है इसलिए अगर आप उधर पधारें तो बहुत उपकार हो सकता है।"

मुनि श्री ने सेठजी की विनती को स्वीकार करने में शासन का हित समझा, अतएव वे पंजाब पधारने के लिए तय्यार होगये।

पंजाब की विशेष वार्ता—

मुनि श्री को पंजाब पधारने की प्रार्थना करने में सेठ समीरमल जी के साथ दिल्ली के दो प्रमुख नेता भी सम्मिलित थे उनकी प्रार्थना को मान देकर मुनि श्री ने पंजाब की ओर विहार कर दिया। मारवाड से दिल्ली तक के मार्ग की कठिनाई को दूर करने के लिए स्थान स्थान पर मार्ग के परिचित अपने आदमियों का तथा सरकारी चोकियों पर भी उचित प्रबन्ध कर दिया गया था। मुनि श्री विहार करते हुए पंजाब दिल्ली पधार गए। वहां रह कर आपने सारी परिस्थिति का अध्ययन किया और इस कुशलता के साथ कार्य किया कि थोड़े ही समय में वह विवाद समाप्त होगया और सारी अव्यवस्था दूर हो गई। मुनि श्री ने अपने बुद्धि कौशल से सारा मत भेद दूर कर दिया और सकल श्री संघ को एक सूत्र में गूंथ दिया। लोगों के दिमाग में फैले हुए भ्रम का आपने योग्यता पूर्वक निराकरण किया और शुद्ध धर्म का स्वरूप समझा कर शासन की रक्षा की। साथ ही साथ संघ की सुन्दर व्यवस्था के लिए आपने पंजाब सम्प्रदाय के मुनि श्री अमरसिंहजी महाराज को वहां आचार्य नियत किये। इस प्रकार आपके प्रयत्न से पंजाब का क्लेश दूर हुआ और वहां की संघ-व्यवस्था सुन्दर और आदर्श हो सकी।

मुनि श्री कनीरामजी म० का और पूज्य श्री अमरसिंहजी म० का वात्सल्य समागम पंजाब संघ के लिए आदर्श रूप रहा। आप दोनों के अनुयायी श्री संघों में भी चिरकाल तक पारस्परिक प्रेम भाव बना रहा और बढता रहा। दोनों संप्रदाय के संतों

में एक ही परिवार सा सद्भाव होगया। पंजाब से लौटते समय स्वामीजी श्री कनीरामजी म० ने पूज्य श्री अमरसिंहजी महाराज को अपने हाथ से लिखा हुआ भगवती सूत्र (टब्बा सहित) स्मृति के रूप में प्रेमोपहार प्रदान किया।

पीपाड में स्थिर-वास

पंजाव से लौटने के वाद मुनि श्री ने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विचर कर धर्म का उद्योत किया। आपने कई स्थानों पर शास्त्रार्थ करके अनेकों जीवों का अज्ञान दूर किया। संवत् १९१७–२२ और २५ में पाली में चर्चा करके कई मानवों को सच्चा मार्ग दिखाया।

संवत् १९२८ के वडलू चातुर्मास में पीपाड का श्री संघ दर्शन करने के लिए आया। उस समय संघ ने मुनि श्री से प्रार्थना की कि "चातुर्मास के पश्चात् आप पीपाड पधारें तो वडा उपकार होगा।" इसके उत्तर में मुनि श्री ने फरमाया कि–"जैसा अवसर होगा वैसा किया जावेगा।"

चातुर्मास की समाप्ति हो जाने पर मुनि श्री ने पीपाड की ओर प्रस्थान किया। यथाक्रम बिहार करते हुए आप जब पीपाड पधारे तो श्री संघ को बहुत ही हर्ष हुआ। बहुत से संत और सतियां भी आपके दर्शन के लिए वहां आगये। मुनि श्री के वहां विराजमान होने से अच्छा समारोह सा आनन्द आने लगा।

उस समय पीपाड के श्री संघ ने विचार किया कि मुनि श्री की अवस्था भी वृद्ध हो चली है और शारीरिक शक्ति भी अब कम हो गई है, इसलिए यदि मुनि श्री अपने यहां स्थविर के रूप में विराजमान होजावें तो अपने को सेवा का अनमोल सौभाग्य प्राप्त होगा। यह विचार कर श्री संघ ने अत्यन्त आग्रह पूर्वक मुनि श्री से वहीं स्थविर रहने के लिए प्रार्थना की। मुनि श्री ने अपनी क्षीण शक्ति और संघ की भक्ति देखकर विनति स्वीकार करली। इससे श्री संघ को अपार हर्ष हुआ। मुनि श्री के वहां विराजमान होने से धर्म की ज्योति प्रकाशित हो उठी। वहां के नर नारियों में धर्म के प्रति अनोखा अनुराग जागृत हो गया, वहां विविध प्रकार की तपश्चर्या और प्रत्याख्यान होने लगे। कई व्यक्तियों ने अपने जीवन की दिशा ही बदल ली। भोग विलास में अनुरक्त रहने वाले कई व्यक्तियों पर ऐसा प्रभाव पडा कि उन्होंने शील व्रत अंगीकार कर लिया। कइयों ने वनस्पति खाने का त्याग कर लिया। पचरंगी तपश्चर्याओं का ठाठ जमने लगा। इस प्रकार मुनि श्री के विराजने से पीपाड़ नगर मानो धर्म नगर सा वन गया था।

मुनि श्री ने जिन क्षेत्रों में चातुर्मास किए उनकी तालिका निम्न प्रकार है—

दिल्ली, लश्कर, किशनगढ और वराटियां इन चार क्षेत्रों मे मुनि श्री ने एक एक चातुर्मास किया। वीकानेर मे दो, जयपुर में दो, रियां में ३, वड्लू में तीन, अजमेर में छ, अहिपुर में (नागौर में) सात, जोधपुर में दो, रियां में ३, पाली में ११ इस प्रकार तेरह क्षेत्रों में ६६ चातुर्मास आपने किए।

जीवन भर अपनी प्रतिभा के द्वारा सत्य धर्म का प्रचार करते हुए तथा स्व-पर का कल्याण करते हुए आप विभिन्न क्षेत्रों मे विचरते रहे। अन्त में शारीरिक क्षीणता के कारण पीपाड में विराजमान रह कर भी धर्म का ऐसा रंग चढ़ाया कि पीपाड धर्मनगर सा वन गया।

मुनि श्री ने अपना अन्तिम जीवन यहीं व्यतीत किया। भक्तजन वडी श्रद्धा के साथ गुरु-भक्ति का आनन्द उठाते और मुनि श्री उन्हें सच्चा पारमार्थिक ज्ञान सिखलाते। इस प्रकार सात वर्ष और दस मास व्यतीत हो गए।

इसके पश्चात मुनि श्री के शरीर पर रोग ने आक्रमण किया। आपको आहार से अरुचि हो गई। भक्तजनों ने इस रोग की चिकित्सा करवाने के लिए आपसे बहुत प्रार्थना की, लेकिन आप देह के प्रति ऐसे निस्पृह हो गए थे कि आपने औषध-सेवन करने का त्याग कर दिया। पहले जो औषधि चालू थी वह भी बन्द कर दी। कैसी देह के प्रति निस्पृहता।

समीप में रहने वाले संत योग्य उपचार के लिए बराबर कहा करते, तब आप फरमाते कि "सन्तो! यह नश्वर देह अब साथ छोडना चाहती है। इस विषय में अब प्रयास करना निरर्थक है। वह दिन धन्य होगा जिस दिन में संथारा स्वीकार करूंगा। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें और मुझे ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सहायता-प्रदान करते रहें।"

अवसर देखकर मुनि श्री ने पौष कृष्णा ७ के दिन आलोचना लेकर आत्मशुद्धि करली। आपने योग्य मुनिवरों के समक्ष पुनः व्रतों को निर्मल करके मानसिक शल्य से निवृत्ति करली। इस अवस्था में भी आप उपवास, एकाशन वगैरह तप किया करते थे। आप औषधि ग्रहण आदि में प्रयत्न नहीं करते हुए तप की आराधना में ही यत्न करते थे।

आखिर माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन शारीरिक पीडा अधिक बढ़ जाने से आपने संथारा स्वीकार किया। रात्रि के प्रथम प्रहर से शरीर में दाह होने लगा और अन्तिम प्रहर में अधिक उग्र हो गया। समीपवर्ती संत आपको शास्त्रों की

गाथायें सुनाते रहे और आप प्रभु के ध्यान में लवलीन रहे। इस प्रकार शुभ अध्यवसायों का चिन्तन करते हुए एक ही हिचकी के साथ ७७ वर्ष १० मास २१ दिन की आयु पूर्ण कर आपकी आत्मा ने परलोक के लिए प्रयाण कर दिया। जिस प्रकार मत्त मतंगज के मस्तक से सहज ही फूलों की माला नीचे गिर पड़ती है, इसी तरह एक हिचकी में ही आपके शरीर से प्राणोत्क्रमण हो गया। सर्वत्र शोक छा गया। माघ शु० पंचमी को आपकी देह का अग्नि संस्कार किया गया।

एक दिव्य विभूति समाज के सामने से सदा के लिए लोप हो गई।

स्वामीजी का शिष्य समूह

१—श्री मेघराज जी महाराज

स्वामीजी श्री कनीरामजी महाराज के पांच शिष्य थे। इनमें सबसे ज्येष्ठ श्री मेघराजजी महाराज थे। जोधपुर में ओस वंशीय श्रीमान् मोतीरामजी सा० भनसाली निवास करते थे। आपकी धर्मपत्नी का नाम श्री मोरादेवी था। इनकी पवित्र कुक्षि से संवत् १८५९ में श्री मेघराजजी का जन्म हुआ। सकल परिवार ने बड़े उत्साह से पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। कुल परम्परा के अनुसार सब आचार और संस्कार विधिवत् किए गए। बुद्धि की कुशलता से तेरह वर्ष की अवस्था में ही मेघराजजी ने व्यापार कला में अच्छी निपुणता प्राप्त करली। ऐसा होने पर भी कुदरत को आपका व्यापारी-जीवन अभीष्ट न था। वह आपसे विशिष्ट एवं जनहितकारी कार्य करवाना चाहती थी। अस्तु।

संयोग वश मुनि श्री कनीरामजी म० के प्रभावशाली उपदेश से आपके हृदय में वैराग्य-भाव जागृत होगया। आखिर चवदह वर्ष की अवस्था में आपने श्री कनीरामजी महाराज के पास शुभमुहूर्त में दीक्षा धारण करली। ३६ वर्ष तक आपने संयम की निर्मल आराधना की।

आपको लेखन कला का बड़ा चाव था। आपने दूर-दूर क्षेत्रों में भी विचरण किया। मालवा, मेवाड़ आदि प्रान्तों में विचर कर धर्म का प्रचार किया। मालवा में विचरते हुए आपने पंजाब निवासी बालचन्द्रजी को सद्बोध देकर मुनि दीक्षा प्रदान की। मुनि श्री बालचन्द्रजी का त्याग और तपोमय जीवन मुनिसमाज के लिए आदर्श रूप था। उसका वर्णन आगे किया जावेगा।

मुनि श्री मेघराजजी म० की अभिरुचि निबन्ध, प्रबन्ध, पद्य आदि का संग्रह करने की विशेष थी। सम्वत् १९३१ मार्गशीर्ष शुक्ला ७ को आपका स्वर्गवास हो गया। आपकी उम्र केवल ५० वर्ष की थी। आप श्री कजोडीमलजी म० के समकालीन सहयोगी सन्त थे।

२—श्री बुधमल जी महाराज

आप श्री कनीरामजी महाराज के द्वितीय शिष्य थे। मारवाड प्रान्त के अन्तर्गत, 'बावरा' नामक ग्राम में आपका जन्म हुआ। आपके पिता श्री का नाम कनीरामजी लोढा था, तथा मातुश्री का नाम लछमाबाई था। सम्वत् १८९५ में आपने श्री कनीरामजी महाराज से पाली नगर में दीक्षा धारण की।

आपने अत्यन्त निर्मल रूप से महाव्रतों का पालन किया। आपका अन्तःकरण समितियों से संयत और गुप्तियों से गुप्त था। कर्मों की निर्जरा के लिए उपवास बेला, तेला से लेकर मासखमण तक की आपने तपश्चर्या की। ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय आदि में ही आपका समय व्यतीत होता था। आपकी उत्कृष्ट संयम-आराधना के कारण आपकी कीर्ति कौमुदी सर्वत्र छिटक पड़ी। आपने अनेक ग्राम, पुर, पट्टन आदि को अपने पुनीत शुभागमन से पवित्र बनाए। आपके द्वारा अनेक भव्य जीवों ने सन्मार्ग अंगीकार किया। आपकी निर्मल संयम आराधन की दूसरों पर अच्छी छाप पड़ती थी। आपके द्वारा दयाधर्म की अच्छी प्रभावना हुई।

कालक्रम से विचरते हुए सम्वत् १९२१ मार्गशीर्ष शुक्ला १२ के दिन आपको अचानक ज्वर हो गया। केकिन्दरा के श्री संघ ने अत्यन्त आग्रह पूर्वक महाराज श्री से वहीं विराजने की प्रार्थना की। श्री संघ की भक्ति और भावना देखकर मुनि श्री वहीं विराजे। रोग शान्त न हुआ। अनेक उपचार किए गए मगर कोई कारगर नहीं हुआ। दिन प्रतिदिन व्याधि बढती ही गई। मुनि श्री पूर्वकर्मों का फल समझकर समभाव से वेदना सहन करते रहे।

पौष कृष्णा ८ को प्रातःकाल सूर्योदय होते ही आपने अपने शरीर की परिस्थिति देख कर यावज्जीवन के लिए संथारा स्वीकार कर लिया। आलोचना के द्वारा आत्मशुद्धि करके सब जीवों से क्षमायाचना की। मुनि श्री के संथारे के समाचार सुनकर आसपास के नगर और ग्रामों से सैकडों नरनारी दर्शन के लिए आने लगे। सब दर्शकों के मुख से "धन्य! धन्य!!" की ध्वनि निकलने लगी।

आपके सौम्य दर्शन से दर्शकों के हृदय में धार्मिक भावना जाग उठी। अनेकों व्यक्तियों ने विविध त्याग-प्रत्याख्यान किए । कई अजैन बन्धुओं ने भी जैनधर्म अंगीकार किया।

आपका संथारा २७ दिन तक चला ! ज्यों ज्यों शरीर में दुर्बलता आती गई त्यों त्यों मनोबल बढता गया ! कैसा अनोखा आत्मबल ! उससे जैनधर्म की खूब ही प्रभावना हुई। अन्त में माघ कृष्णा ४ (सम्वत १९२१) को आपने यह औदारिक देह त्याग कर दिव्य जीवन प्राप्त किया।

श्रद्धालु श्रावक जनों ने आपके मृत-देह का बडे समारोह के साथ अग्नि-संस्कार किया। साक्षात् देव-विमान के तुल्य मंडी की रचना की गई थी । उस मंडी में मुनि श्री के मृत देह को रख कर श्मशान यात्रा का जुलूस निकाला गया था। केकिन्दरा में दर्शन के लिए आए हुए हिम्मतरामजी नामक श्रावक ने मुनि श्री की संक्षिप्त जीवनी लिखी है।

मुनि श्री के उज्ज्वल जीवन की महिमा इसीसे जानी जा सकती है कि लोग आपको 'पंचम काल में चौथे आरे का नमूना" कहा करते थे । आपने अल्पकाल में ही मानव जीवन को सफल बना लिया । धन्य है ऐसे आत्मबली महापुरुषों को !!

पूज्य श्री विनयचन्द्र जी महाराज

बाल्यकाल

मरुधर देश के अन्तर्गत थली प्रान्त में फलौदी नाम का प्रसिद्ध नगर है। वहां ओशवंशीय श्री प्रतापमलजी सा० पुंगलिया रहते थे । उनकी धर्मपत्नी का नाम रम्भाकुंवर था। श्री प्रतापमलजी अपने समय के राजमान्य और प्रतिष्ठित सद्-गृहस्थ थे। धर्म में दृढ श्रद्धा होने से उनका जीवन-पवित्र और सुखी था।

संवत् १८९७ आश्विन शुक्ला चतुर्दशी के दिन इस दम्पति को कुल दीपक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। पुण्यशाली के जन्म से भला किसको प्रसन्नता नहीं होती उसका जीवन सर्वप्रिय होता है। इस नियमानुसार बन्धु-बान्धव और इष्ट-मित्रों

सभी ने जन्म पर आनन्दोत्सव मनाया। श्री प्रतापमलजी सा० ने अपने वैभव के अनुसार पुत्र का जन्मोत्सव किया। कुलाचार के अनुसार बारहवें दिन नामकरण के लिए कुटुम्बीजन एकत्रित हुए, और नवजात बालक की दिव्य आकृति को लक्ष्य में रखकर उसका नाम "विनय चन्द्र" रक्खा गया।

शैशव वय को पार करने पर आपको विद्याध्ययन के लिए बैठाया गया। आपने बुद्धि की तीक्ष्णता के कारण अल्प समय में ही व्यवहारिक ज्ञान को सम्पन्न कर लिया। आपके चार भाई और एक बहिन थी। बहिन का विवाह पाली में किया गया था।

संयोगवश अचानक ही आपके माता-पिता का स्वर्गवास होगया। इसलिए कुटुम्ब की सारी जवाबदारी आपके सिर पर आ पड़ी। इस विकट परिस्थिति में भी आपने बड़े धैर्य से काम लिया। कहा भी है—'संसार की समरस्थली में धीरता धारण करो, जीवन समस्यायें जटिल हों, किन्तु उनसे मत डरो। वरवीर बनकर आप अपनी विघ्न बाधायें हरो, मर कर जियो बन्धन विवश पशु सम न जीते जी मरो।' उपरोक्त उक्ति के अनुसार आपने बाधाओं पर विजय कर अपनी परिस्थिति के अनुकूल व्यापार आरम्भ किया। अनुभव की बात है किसी भी व्यापार के आरम्भ में समर्थ सहायकों की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से पाली को आपने अनुकूल क्षेत्र समझा। वहां बहिन-बहनोई का सहयोग भी मिल सकता था। इसलिए आपने पाली में व्यापार आरम्भ किया। व्यापार में आपको लाभ होने लगा और कौटुम्बिक चिन्ता भी अब विशेष नहीं रही। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि आती हुई सम्पत्ति अन्य सम्पत्ति को साथ लाती है और विपत्ति दूसरी विपत्ति को साथ में लेकर आती है। व्यापार में उचित द्रव्य का लाभ होने से आपका जीवन सुख पूर्वक व्यतीत होने लगा। फिर भी आपका हृदय मानो किसी अलभ्य वस्तु की खोज में संलग्न था।

वैराग्य और दीक्षा

विशेष पुण्योदय से आपको पूज्य श्री कजोड़ीमलजी म० के शुभ दर्शन का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनकी वैराग्यमय वाणी को सुनकर आपके हृदय में वैराग्य का संचार हो गया। विनयचन्द्रजी ने अपने विचार अपने छोटे भाई श्रीकस्तूरचन्द्रजी के सामने प्रकट किये। उन विचारों को सुन कर कस्तूरचन्द्रजी ने भी अपने बड़े भाई का अनुसरण करने का संकल्प कर लिया। दोनों बन्धु विरक्त भाव से पूज्य श्री की सेवा में रह कर साधुता सम्बन्धी ज्ञानाभ्यास करने लगे।

थोड़े समय पश्चात् पूज्यश्री ने अजमेर की ओर विहार कर दिया विनयचन्द्रजी ने भी अपने कुटुम्बियों को किसी तरह समझा बुझा कर दीक्षा की आज्ञा प्राप्त कर ली। दोनों बन्धु कुटुम्बियों की आज्ञा लेकर पूज्य श्री की सेवा में अजमेर पहुंच। संवत् १९१२ मार्गशीर्ष कृष्णा २ के शुभ मुहूर्त में पूज्य श्री के पास दोनों वैरागी बन्धुओं ने दीक्षा अंगीकार की।

दीक्षा-धारण करने के पश्चात् दोनों बन्धुओं ने ज्ञानाभ्यास का पूरा परिश्रम किया। थोड़े ही समय में आपने ऐसी योग्यता सम्पादित करली कि आप धाराप्रवाह रूप से शास्त्रों का व्याख्यान करने लगे। साथ ही विनय की अधिकता और प्रकृति की कोमलता के कारण आप सबके प्रेमपात्र बन गये।

दुर्दैव से छोटे भाई मुनिश्री कस्तूरचन्द्रजी म० का अचानक तथा असामयिक देहावसान हो गया। युगल बन्धु की जोड़ी खण्डित होगई। किन्तु मृत्युलोक में शरीरधारियों के लिए मृत्यु अटल है। उस पर किसी का वश नहीं चलता।

सम्वत् १९३३ में पूज्यश्री कजोड़ीमलजी म० ने अजमेर में चातुर्मास किया था। चातुर्मास की समाप्ति पर बिहार करने के भाव थे परन्तु शारीरिक अशान्ति के कारण विहार न हो सका और अजमेर में ही अन्तिम जीवन बिताना पड़ा। मुनिश्री विनयचन्द्रजी म० प्रायः पूज्य श्री की ही सेवा में रहा करते थे। पूज्य श्री की सेवा करते हुए बुद्धि की तीव्रता और अव्याहत परिश्रम के कारण आपने जैन आगमों का मर्म भली भांति समझ लिया था।

गुरुदेव की कृपा और आचार्य पद

आपकी विनयशीलता आगमज्ञता और व्यवहार कुशलता के कारण पूज्य श्री की आप पर विशेष कृपा थी। आपके सद्गुणों से प्रभावित होकर पूज्य श्री कजोड़ीमलजी म० ने आपको ही अपना योग्य उत्तराधिकारी मनोनीत किया। पूज्य श्री का स्वर्गवास होजाने पर सम्वत् १९३७ ज्येष्ठ कृष्णा ५ को चतुर्विध श्रीसंघ ने बडे समारोह के साथ आपको आचार्य पद प्रदान किया। आपने ३६ वर्ष तक बडी योग्यता के साथ सम्प्रदाय का संचालन किया। इन छत्तीस वर्षों में से आदि के बावीस वर्ष पर्यन्त आपने विविध स्थानों में उग्र विहार कर कई भव्यात्माओं को संयमी जीवन के अधिकारी बनाये, कइयों को श्रमणोपासक और सम्यक्त्वी बना कर वीर के शासन की प्रभावना की। अन्त के चौदह वर्ष पर्यन्त आप स्थविरवास में रहे। इन वर्षों में भी आपने अपने ज्ञान और चारित्र के द्वारा शासन की महिमा के कार्य किये।

भी प्रतिवर्ष आप अट्ठाई (आठ उपवास) करते थे । आपकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी—आपकी वैयावृत्य-भावना । आपने दीक्षा लेते ही अपने आपको मुनिराजों की सेवा में लगा दिया । तपस्वी, बाल, वृद्ध और ग्लान मुनिराजों की सेवा के लिए आप सदा तत्पर रहते थे । किसी भी मुनि को जलादि की याचना के लिए जाते देख कर या अन्य कार्य करते हुए देखकर आप स्वयं आगे आ जाते और उनका काम आप स्वयं कर देते थे । गृहस्थ अवस्था में इतने बड़े श्रीमन्त होते हुए भी उसका तनिक सा भी विचार न लाते हुए आप सरल भाव से वैयावृत्य करते । जिसने जयपुर के उपवनों में भोगी जीवन बिताया, मित्रजनों के साथ मधुर ठंढाई का पान कर घाट, गलता और रामबाग की सैर की, वही पुरुष आज भिक्षुक बन कर जयपुर की गलियों में घूम रहा है । यह कितनी महानता है ?

आपका हृदय इतना विशाल था कि कठिन से कठिन परीषहों में भी आपके मुख पर कभी सल न पड़ा । आपने अपने दिल को कभी छोटा न होने दिया । यह आपकी दूसरी महानता है । एक गर्भश्रीमन्त होते हुए इस प्रकार अग्लान भाव से परीषहों को सहन करना साधारण बात नहीं है ।

आप में अन्य गुणों के साथ काव्यकला के प्रति भी अभिरुचि थी । आप स्वयं नवीन पद्यों की रचना कर सकते थे । आपकी बनाई हुई सैंकड़ों कवितायें हैं । जिनमें त्याग और वैराग्य के भाव भरे हुए हैं । उन पद्यों को पढ़ने और सुनने से आज भी अनेकों व्यक्तियों के मानस त्याग और वैराग्य से पूरित हो जाते हैं ।

आप प्रायः पूज्यश्री की सेवा में ही निवास करते थे । इस प्रकार ज्ञान, और चारित्र की निर्मल आराधना करना ही आपने अपना लक्ष्य बना रक्खा था इसी लक्ष्य के लिए आप सतत प्रयत्नशील रहते और अप्रमत्तभाव से लक्ष्य तक पहुंचने की यथासाध्य कोशिश करते ।

आप एक आत्मार्थी पुरुष थे । आपने संयम की निर्मल आराधना करके अपना कल्याण साध लिया । साथ ही आपने श्रीमन्तों के सामने त्याग का महत्वपूर्ण आदर्श उपस्थित किया ।

कैसी अनूठी प्रतिज्ञा-पालकता ! कैसी आदर्श दीक्षा ! ! और कैसी निर्मल उसकी आराधना ! ! !

संवत् १९५१ में स्वामीजी म० श्री चन्दनमल्ल जी म० के पास श्री सुजानमलजी पटनी ने नागौर नगर में दीक्षा धारण की । आपको स्वामीजी

म० ने तपस्वी हंसराज जी म० के शिष्य घोषित किये । इस प्रकार पूज्य श्री के शासन में उनके वैराग्यमय उपदेश से अनेकों भव्यात्माओं ने अपना कल्याण साध लिया । पूज्य श्री ने बावीस वर्ष तक विविध क्षेत्रों में विराजकर संघ-संघटना का कार्य किया उसके पश्चात शारीरिक अवस्थता के कारण आप जयपुर में १४ वर्ष पर्यन्त स्थिर-वास में विराज-मान रहे ।

इस अवस्था में भी पूज्य श्री की धारणा शक्ति और आगम मर्मज्ञता का जैन जैनेतरों पर अच्छा प्रभाव पड़ता था । जिनवाणी का स्वाध्याय करना, उसका मर्म समझाना और समझना यह आपका मुख्य कार्य था । सतत शास्त्र-पठन और चिन्तन के कारण आपका हृदय आगम मय बन गया था । कौनसा प्रसंग, किस सूत्र में, किस अध्ययन में, किस उद्देश्य में और किस पत्र में है यह भी आप बतला देते थे इसीसे विदित हो जाता है कि आपने आगमों का कितना परिशीलन किया था । आपकी तीव्र धारणा-शक्ति को देखकर सबको विस्मय होता था ।

एक बार कोई यति जी पूज्य श्री के पास आगम सम्बन्धी शंका का समाधान करने के लिए आए । यतिजी को भगवती सूत्र के किसी प्रकरण के सम्बन्ध में जानकारी करनी थी । यतिजी ने स्वयं वह प्रकरण नहीं देखा था । उन्होंने केवल श्रुति के आधार से अपना सन्देह पूज्य श्री के सामने प्रकट किया । यति जी की शंका का निवारण करने के लिए भगवती सूत्र का वह प्रकरण उनके सामने रखना आवश्यक था; इसलिए पूज्य श्री ने अपने भावी पट्टधर मुनि श्री शोभाचन्द्र जी म० को भगवती सूत्र लाने की आज्ञा प्रदान की । आज्ञा होते ही मुनि श्री भगवती सूत्र ले आए । भगवती सूत्र जैनागमों में सबसे बड़ा सूत्र है । यह समुद्र के समान गम्भीर और विस्तार वाला है । इसके प्रकरणों और विषयों का यथार्थ रीति से विभाग कर देना साधारण काम नहीं है । इतने विशाल ग्रन्थ में से इच्छित प्रकरण एकदम निकाल लेना सतत पठन-पाठन और परिशीलन के बिना दुष्कर सा है ।

भगवती सूत्र के आते ही पूज्य श्री ने फरमाया कि अमुक शतक, अमुक उद्देशक और अमुक पत्र निकालो । आदेशानुसार ऐसा करते ही इच्छित प्रकरण मिल गया । इससे उपस्थित व्यक्तियों को बड़ा विस्मय हुआ । सबको यह प्रतीत हो गया कि पूज्य श्री का ज्ञान और धारणा शक्ति कितनी प्रबल है । यति जी का सन्देह दूर हो गया । उन पर पूज्य श्री के विपुल ज्ञान की गहरी छाप पड़ी ।

पूज्य श्री के इतने विपुल ज्ञान का कारण यह भी था कि आप कभी विकथाओं में अपना समय नहीं व्यतीत करते थे । आप हमेशा शास्त्रों के स्वाध्याय में ही तत्पर रहते । दर्शन के लिए आने वाले भक्तों को भी आप आगम सम्बन्धी उपदेश सुनाते थे ।

आपका संस्कृत भाषा में अच्छा प्रवेश था अतएव आपने आगमों की विस्तृत संस्कृत टीकाओं का भी पूर्ण अवलोकन किया था।

आपके श्रुत प्रभाव की दूसरी घटना इस प्रकार है:—

जिस समय आप जयपुर में विराजमान थे उस समय वहां खरतरगच्छ के साधु शिवजीरामजी म० भी वहीं थे । खरतरगच्छीय साधुजी को एक दिन अचानक पूज्य श्री के दर्शन हो गए । थोडे से सम्भाषण मात्र से उन साधुजी को पूज्य श्री की प्रगाढ विद्वता प्रतीत हो गई । इससे आकर्षित होकर वे प्रायः प्रतिदिन पूज्य श्री के पास आने लगे । दोनों का पारस्परिक सद्भाव और सद् व्यवहार उस समय में एक नवीन घटना थी । प्रायः मन्दिर मार्गी एवं साधुमार्गी सम्प्रदाय का पारस्परिक द्वेश बहुत जगह देखा जाता है । ऐसी स्थिति में पूज्य श्री की साम्प्रदायिक सहिष्णुता सचमुच आदर्श रूप थी । दोनों का प्रेम सम्प्रदाय भेद से दूर और निश्च्छल था, प्रायः नित्य समागम हो जाता था।

एक वार पूज्य श्री ने श्री शिवजीरामजी म० को कहा कि "यों तो आपने अनेक ग्रन्थ वांचे हैं और वांचते हैं किन्तु आप एक वार ध्यानपूर्वक आचारांग सूत्र पढ जाइए ।" पूज्य श्री के इस प्रिय कथन के अनुसार श्री शिवजीरामजी ने आचारांग सूत्र पढा । इससे उनको वडा सन्तोष हुआ।

साधुमार्गी साधुओं के साथ इस प्रकार का शिष्टाचार रखने के कारण मन्दिर मार्गी श्रावक अपने साधु श्री शिवजीरामजी म० से कहते कि आप तो आधे ढूंढिए हो गए । इस आक्षेपमय कथन के उत्तर में वे कहते कि "कुछ भी हो मेरी सूत्रों को पढने की रुचि को पूज्य श्री विनयचन्द्र जी म० ने ही जागृत की । इस उपकार को तो मैं आजीवन नहीं भूल सकता ।"

यही वात यह वताने के लिए पर्याप्त है कि पूज्य श्री का श्रुत प्रभाव कितना जवरदस्त था ?

तीव्रस्मरण-शक्ति

पूज्य श्री की स्मरण शक्ति इतनी तीव्र थी बीसों वरस वाद भी यदि कोई पूर्व परिचित श्रावक आकर चरण छूता तो उसकी वोली मात्र सुनकर आप उस

आगन्तुक व्यक्ति की पूर्व पीढियों तक की बात बता देते थे। इससे उपस्थित व्यक्ति आश्चर्य में पढ जाते थे। बहुत से लोग अपने प्रत्यक्ष अनुभव को आज भी कहा करते हैं।

स्मरण शक्ति की तीव्रता और शतत शास्त्रों का पठन पाठन एवं परिशीलन के कारण आपकी विद्वता का प्रभाव जैन एवं जैनेतर जनता पर विशेष रूप से पडता था। आपने अपने ज्ञान और चारित्र के बल से न केवल इस साम्प्रदाय का ही अपितु समस्त साधु मार्गी समाज का गौरव बढाया है।

चर्म चक्षुओं की मन्दता

यह पहले लिखा जा चुका है कि पूज्य श्री को शास्त्रों के स्वाध्याय का अत्यधिक चाव था। आप प्रायः अधिकांश समय स्वाध्याय में ही बिताते थे हस्त लिखित और सूक्ष्म अक्षरों के सतत निरीक्षण से आपकी आंखों पर अधिक जोर पडा इसके कारण आपके नेत्रों की ज्योति कम हो गई।

इसके उपचार के लिए सम्वत १९५९ में जयपुर में ही आपकी आंख का आपरेशन कराया गया। संयोगवश शान्त वातारण न मिल सका। जिस मकान में आप विराजमान थे उसके पडौस में दूसरा मकान बन रहा था उसकी खटखट आवाज वातावरण को अशान्त बनाती थी। दूसरी बात गरमी का मौसम था। इन कारणों से आपरेशन सफल न हो सका। इतना ही नहीं अपितु नेत्र शक्ति पहले से भी अधिक मन्द हो गई। इस स्थिति में विविध जन पदों और स्थानों में विचरण करना अशक्त सा हो गया। अतएव जयपुर में ही पूज्य श्री को स्थविर वास रहना पडा।

आपकी सेवा में मुनि श्री शोभाचन्द्रजी म० मुनि श्री हर्षचन्द्रजी म० श्री गुलाबचन्द्र जी म० श्री सुजानमलजी म० और श्री कस्तूरचन्द्र जी म० प्रायः रहा करते थे। अन्य मुनि श्री भी समय समय पर पूज्य श्री के दर्शन और सेवा के लिए आते जाते रहते थे।

पूज्य श्री की कतिपय विशेषताएं

यों तो ज्ञान और चारित्र का सुमेल ही संयमी के जीवन का श्रृंगार है, तदापि सँयमी पुरुषों की ओर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि कहीं ज्ञान की विशेषता है तो चारित्र की ओर उतना लक्ष्य नहीं दिया जाता और कहीं सूक्ष्म क्रियाओं के पालन की ओर प्रधान लक्ष्य दिया जाता है तो वहां ज्ञान की प्रायः त्रुटि देखी जाती है। ज्ञान और क्रिया का सुन्दर सुमेल विरल पुरुषों में ही दृष्टिगोचर होता है।

पूज्य श्री में यह विशेषता थी कि आप शास्त्रों के मर्म को समझने वाले समर्थ विद्वान् होने के साथ ही साथ आचार के सूक्ष्म नियमों के यथाविधि परिपालक थे। आपके मन में ज्ञान और चारित्र दोनों के लिए समान रूप से आदरबुद्धि थी।

जैनागम में प्रतिपादित कर्म प्रकृतियों के स्वरूप का पूज्य श्री बडी खूबी के साथ विवेचन करते थे। इस कठिन विषय को आप इस तरह सरल बना कर जिज्ञासुओं के सामने रखते कि वे आसानी से इसे समझ लेते थे। पूज्य श्री की विवेचन शैली का ही यह प्रताप है कि उस समय के श्रावक जनों को भी शास्त्रीय विषयों का इतना बोध था जितना आजकल के कई मुनियों को नहीं है। पूज्य श्री को शास्त्रीय विषयों का चाव था अतः उनके संसर्ग से अनेक भव्यात्माओं में शास्त्रों के प्रति अनुराग जागृत हुआ और वे पूज्य श्री की कृपा से आगमों के अच्छे ज्ञाता बन सके।

पूज्य श्री की स्मरण शक्ति और धारणा शक्ति की तीव्रता आश्चर्य उत्पन्न करने वाली थी। चर्म-चक्षुओं की मन्दता होने पर आपकी ज्ञान-चक्षु अति विलक्षण होगई थी। जरा सी आवाज सुन कर आप आगन्तुक व्यक्ति को पहचान लेते थे और उसका पूरा परिचय बता देते थे। इतना ही नहीं अपितु व्यक्ति की आवाज सुन कर उसके स्वभाव को भी आप समझ लेते थे। व्यक्ति की प्रकृति को समझने में पूज्यश्री बडे कुशल थे।

आगन्तुक की प्रकृति को पहचानने के बाद ही पूज्यश्री उसके योग्य उपदेश प्रदान करते थे। यही कारण है कि आपके उपदेशों के कारण कई व्यक्तियों के जीवन बदल गये। अनेकों व्यक्तियों ने आपके उपदेश से अपना जीवन सुधार लिया। जयपुर निवासी भक्त जनों में धर्म के संस्कार इतने दृढ रह सके इसका कारण पूज्यश्री का वहां विराजमान होना था। पूज्यश्री के कारण जयपुर नगर धर्म का केन्द्र सा बन गया था।

धार्मिक उदारता:—अन्य गुणों के साथ ही साथ पूज्यश्री की सबसे बडी विशेषता है उनकी परमत सहिष्णुता। यह गुण बहुत कम धर्माचार्यों में पाया जाता है। उस काल में धार्मिक कट्टरता विशेष रूप में थी। समय के प्रभाव से आज जितनी धार्मिक उदारता दिखाई देती है उतनी उदारता उस समय नहीं थी। ऐसी स्थिति में पूज्यश्री में पाई जाने वाली धार्मिक उदारता का बहुत ही अधिक महत्व है।

प्रायः अन्य धर्माचार्यों की यह परिपाटी देखी जाती है कि वे अन्य मतों का खण्डन करके और उन्हें हेय बता कर अपना पक्ष सिद्ध करते हैं। परन्तु

पूज्यश्री तो अन्य मतों की भी विशेषता बताते हुए अपनी विशेषता सिद्ध करते थे। आपके उपदेशों मे ऐसी व्यापकता रहती थी जिसके कारण वे सब धर्माव-लम्बियों के लिए समान रूप से उपयोगी होते थे। खण्डन-मण्डन में न पडकर आप ऐसी ठोस सामग्री श्रोताओं को प्रदान करते कि जिससे उनका जीवन नीति-मय, धर्ममय, और सुखमय बनता था। आपके सीधे, सरल और व्यापक उपदेशों को सुन कर प्रत्येक व्यक्ति उल्लसित हो उठता था।

आपकी धार्मिक उदारता से आकृष्ट होकर श्वेताम्बर, दिगम्बर, तेरहपन्थी, शैव, वैष्णव आदि विविध मतावलम्बी व्यक्ति जिज्ञासु-भाव से आपके समीप आया करते थे। आप बडे प्रेम के साथ सबके साथ धर्म-चर्चा करते थे। धार्मिक वार्तालाप के समय किसी प्रकार का पक्ष—व्यामोह नहीं आता था। इसलिए सब खुले हृदय से विचार-विनिमय कर सकते थे। पूज्यश्री के इस गुण के कारण जैन-जैनेतरों पर बहुत अच्छा प्रभाव पडता था। आपके समक्ष किसीके हृदय में धार्मिक विरोधी-भाव नहीं रहते थे।

पूज्यश्री जब किसी विषय का प्रतिपादन करते तो उसके सम्बन्ध में अन्य मतों के दृष्टिकोण पर भी तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते थे। आपकी यह मान्यता थी कि धर्म के मूलभूत तत्व अहिंसा-सत्य आदि का विधान तो प्रायः प्रत्येक धर्म में किया जाता है अतएव प्रत्येक धर्म से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। सर्वत्र गुण-ग्रहण की भावना होनी चाहिए। दोषों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये इस उदार भावना के कारण आपके प्रति सब जनता का आदर-भाव था। जो भी व्यक्ति एक बार पूज्यश्री की सेवा में आ जाता वह सदा के लिए उनके गुणों से प्रभावित हो जाता था। पूज्यश्री का समागम प्रत्येक व्यक्ति के लिए आनन्ददायक होता था।। जैन-जैनेतर जनता पूज्यश्री के दर्शन पाकर अपने नेत्रों को सफल समझती थी इसका कारण पूज्यश्री की धार्मिक उदारता विद्वत्ता और निर्मलचारित्र-सम्पन्नता ही है।

वात्सल्य—भाव

पूज्यश्री के जयपुर में विराजने के कारण यह नगर तीर्थधाम सा बन गया था। यहां साधु-सन्तों का आवागमन होता ही रहता था। अनेक सम्प्रदायों के सन्त पूज्यश्री से आगमों के गूढ मर्म को समझते और अपनी शंकाओं का समा-धान करते थे। अन्य सम्प्रदायों के साथ पूज्यश्री का वात्सल्य भाव प्रशंसनीय था। आप निर्मल संयम की आराधना करने वाले सभी सम्प्रदाय के साधुओं के साथ वात्सल्य भाव रखते थे। इसके कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं।

जयपुर में स्थविर-वास रहने के पश्चात की घटनाओं का उल्लेख करने के पूर्व इसके पहिले की घटनाओं का उल्लेख करना अनुचित न होगा। अतएव यहां पहले उसका उल्लेख किया जाता है:—

पंजाबी सन्तों के साथ प्रेम-व्यवहार:—संवत् १९५४ में पंजाबी सम्प्रदाय के पूज्यश्री अमरचन्द्रजी महाराज की सम्प्रदाय के प्रिय व्याख्याता आगम-ज्ञाता मुनिश्री मयाराम जी म० अपनी शिष्य मण्डली के साथ अनेक ग्राम, पुर, आदि में विचरते हुए मारवाड पधारे।

यह पहले लिखा जा चुका है कि पूज्यश्री कजोडीमलजी म० के शासन काल में प्रसिद्ध चर्चाकार स्वामीजी श्री कनीरामजी म० ने पंजाब में पधार कर वहां की बिखरी हुई संघ-शक्ति को एक सूत्र में ग्रथित कर दिया था। इसके कारण दोनों साम्प्रदायों में प्रेममय सम्बन्ध स्थापित होगया था। संभवतः उसी प्रसंग की स्मृति रूप में अपने उपकारी और प्रेम भाव रखने वाले सन्तों से भेंट करने के लिए ये पंजाबी सन्त मारवाड जैसे अपरिचित और दूरवर्ती क्षेत्र में पधारे।

दोनों सम्प्रदाय के सन्तों का पारस्परिक व्यक्तिगत परिचय नहीं था। परन्तु दोनों के पूर्व पुरुषों का प्रेममय सम्बन्ध था इस नाते दोनों सम्प्रदाय के सन्तों की एक दूसरे से मिलने की उत्कण्ठा जागृत होगई। परिणाम स्वरूप पूज्यश्री विनयचन्द्रजी म० और मुनि श्री मयाराम जी म० परस्पर प्रेम पूर्वक मिले और आगामी चातुर्मास एकत्र ही करने की भावना प्रदर्शित की। दोनों सन्त एक दूसरे से प्रभावित हुए।

मुनिश्री मयाराम जी म० वडे मधुर-भाषी थे, विनयशील, क्रियापात्र, और संयम में सतत सावधान रहने वाले संत थे। पूज्य श्री पर आपका अच्छा प्रभाव पडा। पूज्य श्री ने सोचा कि पधारे हुए संत उत्तम पुरुष हैं, साम्प्रदायिक सम्बन्ध भी प्राचीन है और ये संत दूर से विहार कर यहां पधारे हैं। अतएव स्वागत और सत्कार भी यथेष्ट होना चाहिए। ऐसा विचार कर पूज्य श्री ने दोनों साम्प्र-दायों के संतों के निर्वाह के योग्य स्थान के सम्बन्ध में परामर्श किया। यद्यपि पास में जोधपुर जैसा विशाल क्षेत्र था तदपि पूर्व वर्ष में पूज्य श्री का वहां चातु-र्मास हो चुका था अतएव पूज्य श्री किसी दूसरे क्षेत्र में चातुर्मास करना चाहते थे।

किसी तरह जोधपुर के विज्ञ श्रावक श्री कीर्तिमलजी सा० कोचर मुथा को यह बात प्रतीत होगई। वे इस स्वर्ण अवसर का लाभ उठाने से कब चूकने

वाले थे। वे अनेक गण्य-मान्य श्रावकों के साथ पूज्यश्री की सेवा में आ पहुँचे और विनती करने लगे—"कृपानाथ ! वैसे तो हम मुनि- मार्ग के प्रतिकूल विनती करना नहीं चाहते किन्तु आपकी शारीरिक-स्थिति ऐसी नहीं है कि आप किसी दूरवर्ती क्षेत्र में ३०–४० कोस पधार कर चातुर्मास कर सकें। समीप में ऐसा कोई क्षेत्र दिखाई नहीं देता जहां दोनों सम्प्रदायों के सन्तों का निर्वाह हो सके। यह संयोग भी असाधारण है। पंजावी मुनियों का न जाने फिर कब मारवाड में आने का प्रसंग होगा ? इसलिए हमारी आग्रह भरी प्रार्थना है कि इस वर्ष आप जोधपुर में ही चातुर्मास करें। जोधपुर को ही यह स्वर्ण अवसर प्रदान करें।"

पूज्यश्री ने पर्याप्त विचार विमर्श के बाद उक्त विनती स्वीकार की। चातुर्मास के लिए सब सन्त जोधपुर पधारे। वहां मोती चौक के पास आहोर की हवेली में भीतर और बाहर ऊपर नीचे के कमरों में दोनों सम्प्रदाय के महात्माओं का मुनिकल्प के अनुसार निवास हुआ। जोधपुर के श्रीसंघ को दो सम्प्रदायों के सम्मिलित चातुर्मास से प्रेम का अनूठा आदर्श देखने का यह अपूर्व ही अवसर प्राप्त हुआ। व्याख्यान, सूत्रावलोकन, परस्पर विनय प्रदर्शन आदि देख कर जनता यह नहीं जान सकती थी कि ये दो भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के मुनि हैं।

तात्पर्य यह है कि दोनों महात्माओं का यह भव्य और प्रेम-मय समागम इतना आकर्षक था कि जनता देखते ही मुग्ध होजाती थी। समान गुण-शील वालों में परस्पर अनुराग होता ही है। नीति में कहा है—

गुणिनि गुणज्ञो रमते नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः

अर्थात्—गुणों को पहचानने वाला ही गुणवानों से संतुष्ट होता है। गुण हीन व्यक्तियों को गुणवानों से संतोष नहीं होता।

चार मास तक प्रतिक्षण वर्द्धमान प्रेम से दोनों सम्प्रदाय के संत एक साथ रह कर वीर शासन की शोभा बढाते रहे। चातुर्मास के बाद चिरस्मरणीय प्रेमादर्श को अपने २ हृदयों में लेकर दोनों सम्प्रदाय के संत भिन्न २ दिशा में विचरने लगे। विदाई का दृश्य बडा मर्मस्पर्शी था। श्री मयाचन्द्र जी म० ने पंजाब की ओर प्रस्थान किया।

यह पूज्यश्री की अन्य सम्प्रदाय के साथ वत्सल-भावना का एक नमूना है। जयपुर में स्थिर वास विराजने के पश्चात् के प्रसंग इस प्रकार हैं :—

पूज्यश्री सं० १९५६–५७–५८ का चातुर्मास क्रमशः पीपाड, चि: नगढ और अजमेर में बिता कर जयपुर पधारे। वहां नेत्र-ज्योति मन्द हो जाने के कारण

स्थविर रूप से विराजमान हुए। कालान्तर में पूज्यश्री हुक्मीचन्द्र जी म० की सम्प्रदाय के तत्कालीन आचार्य श्री श्रीलाल जी म० जयपुर पधारे। और नयमल जी सा० के कटले में विराजे। स्थण्डिल भूमि से वापस लौटते समय पूज्यश्री विनयचन्द्र जी म० अपने सन्तों के साथ पूज्य श्री श्रीलालजी म० के पास पधारे। दोनों आचार्यों का प्रेमपूर्ण सम्मिलन हुआ। प्रासंगिक वार्तालाप करने के पश्चात् पूज्यश्री अपने शिष्य समुदाय सहित स्वस्थान पर पधार गये।

वयोवृद्ध, श्रुतवृद्ध, दीक्षावृद्ध और पदवृद्ध पूज्यश्री विनयचन्द्रजी म० का पूज्य श्री श्रीलाल जी म० के स्थान पर जाना निसंदेह निरभिमानिता और प्रेम परायणता का द्योतक था। इस स्थिति में पूज्य श्रीलाल जी म० के हृदय में भी आदर भाव जाग्रत होना स्वाभाविक ही था। तदनुसार दोपहर के पश्चात् पूज्य श्रीलाल जी म० भी पूज्यश्री विनयचन्द्रजी म० के स्थान पर पधारे। अनेक विज्ञ मुनिवरों और जानकार श्रावकों के समक्ष आवश्यक शिष्टाचार के अतिरिक्त दोनों आचार्यों के परस्पर आगम सम्बन्धी सारगर्भित प्रश्नोत्तर हुए। इसके बाद अपनी २ दिनचर्या के अनुरोध से सब मुनिवर अपने स्थान पर चले गये।

पूज्यश्री के इस प्रकार के वात्सल्य पूर्ण एवं विनय-प्रधान आचरण को देखकर सबके हृदय हिल उठते थे। पूज्यश्री ने यह नियम सा बना रक्खा था कि जब कोई भी शुद्ध साधु-मर्यादा का पालन करने वाले नवीन संत वहां पधारते तो उनके प्रति अपना सत्कार प्रकट करने के लिए वे अपना व्याख्यान बन्द रखते और भक्त श्रावकों को नवआगन्तुक संतों के व्याख्यान श्रवण का और सेवा-भक्ति का पर्याप्त लाभ लेने की प्रेरणा करते।

यह धार्मिक नियम धर्म और संघ की सुचारु व्यवस्था के लिए कितना हितकर है? सर्व साधारण भी इस नियम की आवश्यकता को महसूस किये बिना नहीं रह सकते। ऐसा होते हुए भी मिथ्या अभिमान के कारण कतिपय मुनि इस उदार नियम का पालन नहीं करते यह कितना खेद का विषय है। इस नियम के पालन के अभाव में १००-२०० घरों की बस्ती वाले एक क्षेत्र में अनेक व्याख्यान होते हैं और ऐसा करके वीर शासन के अनुयायी कहाने वाले ही वीर-शासन की लघुता करते हैं।

इस अस्त व्यस्त परिस्थिति को दूर करने के लिए ही अजमेर के मुनि सम्मेलन ने नियम बनाया कि "एक क्षेत्र में दो व्याख्यान न हों। पहले से विराजमान सन्त नवागन्तुक सन्तों को व्याख्यान का कार्य सौंप दें"। समूह में

जब विकृति आ जाती है तब उसके माननीय नेता उस विकृति को दूर करने के लिये विशिष्ट नियमों की रचना करते थे। नियमों की रचना मात्र से विकृति दूर नहीं होती मगर उसके लिए अन्तःकरण पूर्वक नियमों के पालन करने की आवश्यकता होती है। जब तक संघ उन बने हुए नियमों को हितकारी समझ कर उनका पालन नहीं करता तब तक वे नियम केवल कागजी नियम होते हैं। उनसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। प्राचीन नियम विद्यमान हैं ही और नवीन नियमों की रचना भी हुई और होरही है। ऐसा होते हुए भी संघ की समुचित व्यवस्था तथा एकता नहीं हो पाती। इसका मूल कारण यह है कि आज नीति-रीति में प्रीति नहीं है।

समाज की वर्तमान स्थिति में सम्मेलन के इस नियम के पालन की अनिवार्य आवश्यकता है। इसके पालन के अभाव में बहुत ही विचारणीय परिस्थिति हो रही है। चतुर्विध श्रीसंघ का कर्तव्य है कि इस ओर अपना ध्यान दे।

पूज्यश्री के समय में इस प्रकार का कोई नियम नहीं था तो भी आप अपनी मनोभावना से ही इस रीति का पालन करते थे। सचमुच सन्मार्ग में प्रवृति करने के लए मानस-प्रेरणा की ही आवश्यकता है। मानस-प्रेरणा वालों के लिए नियमों की कोई आवश्यकता नहीं है। तथा मानस प्रेरणा के बिना बनाये गये सैकड़ों नियम भी निष्फल ही होते हैं। पूज्यश्री का यह स्वेच्छाजन्य नियम कितना उदार और हितकर है।

पूज्यश्री की वत्सलता का तीसरा उदाहरण और देखिए:—

पूज्यश्री धर्मदास जी म० की सम्प्रदाय के भावी आचार्य पण्डित रत्न श्री माधव मुनि जी म० जयपुर पधारे। पूज्यश्री की वात्सल्य वृति और आगम मर्मज्ञता से आकर्षित होकर श्री माधव मुनि जी म० पूज्यश्री के सम्पर्क में आये। पं० रत्न श्री माधव मुनि जी म० संस्कृत-प्राकृत भाषा का प्रौढ बोध रखते थे। ग्रन्थों की गूढ़ ग्रन्थि को सुलझाने में आपकी योग्यता अनुपम थी। फिर भी जब आपका पूज्यश्री से प्रथम परिचय हुआ तब आप पूज्यश्री के गुणों के प्रति पूर्ण श्रद्धालु बन गये। इन दोनों उत्तम पुरुषों का प्रेम-भरा सम्बन्ध भिन्नता में अभिन्नता का बोध कराता था।

पूज्यश्री के गुणों से आकर्षित होकर गुणानुरागी पं० श्री माधव मुनि जी म० ने उस वर्ष वहीं चातुर्मास करने का विचार किया। फलस्वरूप सं० १९७२ में आपने जयपुर में ही चातुर्मास किया। पूज्यश्री जहां विराजमान थे उसके समीप

ही नयमल जी के घेरे में डाकखाने के मकान में पं० श्री माधव मुनि जी म० विराजे। दोनों सम्प्रदाय के मुनियों में अच्छा प्रेम मय व्यवहार रहा। एक ही स्थान पर दोनों मुनिप्रवरों का व्याख्यान हुआ करता था। दोपहर के समय पं० मुनि श्री माधव मुनि जी म० अनुयोग द्वार सूत्र सटीक पूज्यश्री के समक्ष वांचते थे।

जिज्ञासु संत एवं श्रावक भी इससे लाभ उठाते थे। पं० रत्न श्री माधव मुनि जी म० प्रौढ वाचक और व्याख्याकार होते हुए भी सूत्र के मार्मिक भावों को पूज्यश्री से सविनय पूछते थे। पूज्य श्री भी मुनि श्री की प्रगाढ विद्वत्ता निर्भीकता और सबसे अधिक वृद्ध गुरुजनों के प्रति विनयाराधन क्रिया से प्रमुदित होते और फरमाते कि ऐसे ही विज्ञ संयमी वीरों से वीर-शासन का उत्थान हो सकता है।

पूज्यश्री और पं० मुनि श्री माधव मुनि जी म० के पारस्परिक स्नेह भाव की कई घटनायें जयपुर के साधु मार्गीय श्री संघ के अतिरिक्त भी अन्य जैन-जैनेतर जनता के हृदय पर अंकित हैं। चातुर्मास की समाप्ति पर दोनों महापुरुष एक दूसरे की मधुर स्मृति को साथ लेकर भिन्न क्षेत्र वासी बने। पं० रत्न श्री माधव मुनि जी म० ने जब जयपुर से विहार किया उस समय का दृश्य बडा मर्म-स्पर्शी था।

उल्लिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूज्य श्री अन्य सम्प्रदाय के संतों के साथ कितना वात्सल्य रखते थे। धार्मिक अनुदारता तो आप में नाम- मात्र को भी न थी। उस काल में ऐसी उदारता पूज्य श्री की महानता की द्योतक है।

अन्तिम झांकी

जयपुर में विराजते हुए वृद्धावस्था के कारण पूज्यश्री का शरीर क्रमशः शिथिल होने लगा। बीच बीच में कई प्रकार के रोगों का आक्रमण भी हुआ। एक समय की बात है कि पूज्यश्री को जोर से ज्वर होगया। भक्त श्रावकगण सेवा में उपस्थित हुए। परामर्श करके विशेषज्ञ वैद्यों को बुलवाये। वैद्यों ने नाडी देख कर निश्चय किया कि पूज्यश्री को त्रिदोष ज्वर (सन्निपात) है। सबको ऐसा अनुभव होने लगा कि पूज्यश्री की जीवन लीला का यह अन्तिम दृश्य है। सबने परिस्थिति की गम्भीरता का अनुभव किया। श्री राजमल जी कोठारी ने जोधपुर में विराजमान श्री चन्दनमल जी म० को तथा वहां के प्रमुख

श्रावकों को सूचित करने के लिए तार भी दे दिया कि पूज्यश्री का स्वास्थ चिन्ताजनक है शीघ्र ही चांदी की मण्डी लेकर आइये।

इस तार के मिलते ही श्री चन्दनमल जी सा० कोचर वगैरह श्रावकगण श्री चन्दनमल जी म० के पास आये और उन्हें तार के समाचार सुना कर जयपुर जाने के लिए मांगलिक सुनाने की प्रार्थना की। मुनि श्री को वडा विचार आ और उन्होंने कहा कि जयपुर पहुँचते ही पूज्यश्री के स्वास्थ्य के समाचार हमें दे सकें तो अच्छा है ! इसके वाद करीव ३० श्रावक जोधपुर से जयपुर आये।

इधर पूज्यश्री की स्थिति को चिन्ताजनक जानकर जयपुर के प्रमुख व्यक्तियों ने विचार विमर्श करके पूज्य श्री को संथारा करा देने का निर्णय किया। यह वात पूज्यश्री को विदित हुई तो उन्होंने कहा कि अभी मेरे संथारे का समय नहीं आया। उन्होंने अपने पट्टधर शिष्य श्री शोभा चन्द्र जी म० से छाछ लाने को कहा। मुनि श्री छाछ ले आये। पूज्यश्री ने उस छाछ का पान कर लिया। तक्रपान करने से आपके शरीर से ज्वर निकल गया। पूज्यश्री की तवियत में क्रमिक सुधार होने लगा। इस प्रसंग से यह प्रकट होता है कि वृद्धावस्था होते हुए भी पूज्यश्री को अपनी शारीरिक प्रकृति का अच्छा परिचय था।

जोधपुर से श्रावकगण आये उस समय पूज्यश्री की तवियत में सुधार हो रहा था। इससे सव श्री संघ को अत्यधिक हर्ष हुआ। जोधपुर के श्रावकों ने मुनि श्री चन्दनमल जी म० के पास समाचार भेज दिये कि पूज्यश्री की तवियत सुधार पर है चिन्ता जैसी कोई वात नहीं है। यह समाचार पाकर मुनि श्री को परम संतोष हुआ।

इसके पश्चात् पूज्यश्री की तवियत स्वस्थ-सी हो गई। यद्यपि वृद्धावस्था के कारण यदाकदा अस्वस्थता का अनुभव करना पडता था तदपि आम तौर पर तवियत ठीक रहने लगी। मगर सं० १९७२ मार्गशीर्ष कृष्णा १२ के दिन लगभग १० वजे पचहत्तर वर्ष की उम्र में सहसा पूज्यश्री का स्वर्गवास हो गया। स्वर्गवास के एक दिन पहले साधारण सा ज्वर हो गया था। इसके अतिरिक्त और कोई व्याधि नहीं थी। अतएव किसी प्रकार की यातना भोगे विना ही समाधिपूर्वक आपका सहसा देहावसान हो गया।

पूज्यश्री के अचानक स्वर्गवास के समाचार सुन कर सर्वत्र सन्नाटा छागया। सवको अत्यन्त विषाद हुआ। जयपुर निवासी जैन-जैनेतर जनता को ऐसा मार्मिक आघात पहुँचा मानो उनका कोई अत्यन्त निकट का आत्मीयजन चल वसा हो।

सबके मुख पर विषाद की काली छाया दृष्टि गोचर होती थी । पूज्यश्री के स्वर्ग-वास के समाचार तार द्वारा कई स्थानों पर भेज दिये गये ।

पूज्य श्री के मृत-शरीर का अग्नि संस्कार बड़े समारोह के साथ किया गया। जयपुर और आसपास के ग्रामों तथा नगरों की जैन जैनेतर जनता ने हजारों की तादाद में पूज्य श्री की श्मशान यात्रा में भाग लिया। पूज्य श्री के अन्तिम दर्शन करके जनता श्रद्धा के साथ अपना मस्तक झुकाती थी । चन्दन, अगर, कपूर आदि पवित्र वस्तुओं से आपका अग्नि संस्कार किया गया ।

सब नागरिकों के मुख से पूज्य श्री की प्रशंसा के शब्द सुनाई देते थे । जनता को अनुभव हुआ कि आज एक सच्चे त्यागी, उच्च संयमी, प्रौढ विद्वान और महान संत का सदा के लिए वियोग हो गया । इसके कारण न केवल जैन समाज की वल्कि सकल धार्मिक जगत की ऐसी महती क्षति हुई जिसकी पूर्ति होना कठिन है । एक अलौकिक पुरुष भू-लोक से स्वर्ग के लिए विदा हो गया !

पूज्यश्री के स्वर्गवास से समूचे भारत में शोक छागया । स्थान स्थान पर शोक सभायें हुई और पूज्य श्री के गुणों का कीर्तन करने के साथ ही उनके प्रति श्रद्धांजलियां अर्पित की गई ।

मुनि श्री चन्दन मल जी म० उस समय रिंया से विहार कर पीपाड पधारे थे । ज्यों ही आपको पूज्यश्री के अवसान के समाचार विदित हुए त्योंही आप अवाक् से रह गये । भक्त जनों के दिलो में अन्तिम दर्शन न कर सकने का अफसोस बना रहा । उस दिन सांसारिक व्यवहार भी बन्द रक्खे गये । राग-रंग उत्सव सब अप्रिय लगने लगे । बहुत से श्रद्धालु जनों ने उस दिन उपवासादि व्रत किये । इस तरह जहां कहीं भी ये समाचार पहुँचे वहां पूज्यश्री के प्रति मान प्रकट करने के लिए विविध आयोजन किये गये ।

धार्मिक गगन मण्डल का एक ज्योतिर्धर नक्षत्र अस्त हो गया ।

पूज्य श्री विनयचन्द्र जी म० के शासन में सहयोगी संत

१--तपस्वी मुनि श्री बालचन्द्र जी म०

पंजाब प्रान्त में सुनाम नाम का एक प्रसिद्ध नगर है । उसके समीप में मुनक नाम का ग्राम है । वहां अग्रवाल जाति के सद्गृहस्थ श्री चूडामल्ल जी

गरगोत्री रहते थे। उनकी पत्नी का नाम सूवटा देवी था । इस धर्मपरायण दम्पत्ति से सं० १८९४ मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया में पुत्र- रत्न उत्पन्न हुआ जिसका नाम बालचन्द्र रक्खा गया । बालक का बड़े लाड-प्यार के साथ पालन पोषण किया गया ।

व्यापारी कुटुम्ब में जन्म होने के कारण बचपन से ही आपको व्यापार की शिक्षा मिली । थोड़े ही समय में आपने व्यापार में अच्छी निपुणता प्राप्त कर ली । पूर्व के विशिष्ट संस्कारों के कारण बचपन से ही आपको साधु-पुरुषों की संगति का चाव होगया । अवकाश पाते ही आप श्रद्धेय साधुओं के दर्शन के लिए जाते, उपदेश श्रवण करते और तदनुसार आचरण करने का प्रयास भी करते ।

आपके यहां अनाज का मुख्य व्यवसाय था । इस सिलसिले में आपको देशाटन भी करना पड़ता था । संवत् १९१७ में आप व्यापार के निमित्त मालव प्रान्त के अन्तर्गत भोपाल नगर में आये । वहां से नाज खरीद कर अन्य स्थानों पर भेजने में आपको विशेष लाभ दिखाई दिया । उससे भी विशेष लाभ यह हुआ कि वहां विराजमान श्री मेघराजजी म० के दर्शन का सौभाग्य मिला । मुनिश्री के दर्शन करने और उपदेश श्रवण करने से हृदय में मुनि धर्म के प्रति अनुराग पैदा हुआ । आपके हृदय में मुनियों के साथ रहने की भावना पैदा हुई । तदनुसार आपने मुनि श्री के समक्ष अपने उद्गार प्रगट किए कि मैं आगामी चातुर्मास में आपकी सेवा का लाभ लेना चाहता हूँ । मुनिश्री ने फरमाया कि जैसी तुम्हारी भावना हो वही करो ।

मुनि श्री मेघराजजी म० का आगामी चातुर्मास भेलसा में करने का निश्चय हुआ । यह निश्चय जानकर मुनि श्री की सेवा में उन्हें पुनः शीघ्र उपस्थित होने की भावना से आप अपने घर की ओर रवाना हो गए ।

आपका व्यापार एक दूसरे व्यापारी के साझे में चलता था । एक दिन आपके भागीदार ने आपसे पाटन जाने का कहा । आपकी भावना तो शीघ्र से शीघ्र सब काम समेट कर गुरु महाराज की सेवा में जाने की थी । इसलिए आप पाटन नहीं जाना चाहते थे । आपने उस समय तेला कर लिया था और अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए भावना भाली । संयोगवश आपके भागीदार का विचार बदल गया और वह स्वयं वहां जाने को तैयार हो गया । भागीदार के इस विचार परिवर्तन से आपको परम हर्ष हुआ और आपने इसे तपश्चर्या का प्रभाव माना ।

उसी समय से तपश्चर्या के प्रति आपका विशेष अनुराग हो गया जिसने आगे चल-कर आपको महान तपस्वी के पद पर पहुँचाया ।

थोडे दिनों के पश्चात आपने अपना हिस्सा वेच दिया और गुरु म० की सेवा के लिए भेलसा पहुँच गए । मुनि श्री के पास रह कर आपने ज्ञानाभ्यास करना और वेला तेला अट्ठा-ई आदि तप की आराधना करना भी प्रारम्भ कर दिया । इस प्रकार आप उच्च वैराग्य भावना के साथ गुरुदेव की सेवा में तल्लीन रहने लगे । आपके पिताजी आदि कुटुम्बियों ने जब आपके वैराग्य की बात सुनी तो वे आपको बुलाने के लिए पत्र पर पत्र देने लगे । इतना ही नहीं स्वयं आकर उन्हें तरह तरह से समझाने की कोशिश करने में उन्होंने किसी तरह की कमी न रखी मगर वे आपकी वैराग्य भावना को रंचमात्र भी कम न कर सके । आखिर में उन्होंने दीक्षा के लिए आज्ञापत्र लिख दिया ।

दीक्षा की आज्ञा मिल जाने से आपके हर्ष का पारावार न रहा । आपने परम उत्साह के साथ सम्बत् १९१९ कार्तिक शुक्ला १२ चन्द्रवार को विराट मानव मेदिनी के समक्ष समारोह पूर्वक भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

आपका त्याग और वैराग्य उच्च कोटि का था । आपने दीक्षा के प्रथम दिवस से ही व्याधि और पारणे के अतिरिक्त चार विगई (दूध, दही, मिष्ठान और तेल) का यावज्जीवन के लिए त्याग कर दिया । प्रासुक हरे साग के उपभोग का भी आजीवन त्याग कर दिया । दीक्षा अंगीकार करने के साथ ही साथ आपने कई विशेष नियम प्रत्याख्यान भी धारण किए । शीत परिषह पर विजय पाने के लिए आपने वहुत दिनों तक एक पछेवडी से ही निर्वाह किया । आप प्रतिमास पांच उपवास तो किया ही करते थे । विशेष तपश्चर्या भी प्रायः आप करते ही रहते थे । आपके जीवन में तपश्चर्या की प्रधानता रही ।

तपस्वी जी-महाराज जेष्ठ मास में प्रखर सूर्य की किरणों से आग के समान जलती हुई रेती पर अथवा तप्त शिला पर आंखें बांध कर मध्यान्ह के समय लेटे लेटे आतापना लेते थे । घण्टों तक आप इस प्रकार तप्त रेती या शिला पर लेटे रहते । वहुत देर तक लेटे रहने से जब शरीर का निम्न भाग ठण्डा मालूम होता तो आप शीघ्र करवट वदल लेते और आप तीव्रताप का परिसह सहन करते थे। कितना कठोर देहदमन ! शरीर की ममता का त्याग किए विना क्या इतना देह-दमन सम्भव है ? कदापि नहीं ।

तपस्वीजी म० कठिन से कठिन अभीग्रह भी धारण करते थे । शास्त्रकारों ने अभीग्रह (प्रतिज्ञा विशेष) को कर्मों को क्षय करने का प्रधान साधन माना है ।

इसके साथ ही साथ अपने संचित कर्मों की लघुता या गुरुता जानने की भी यह एक युक्ति है । जिनकी आत्मिक शक्ति बढी चढी होती है वे ही अभिग्रह धारण कर सकते हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को ध्यान में रखकर प्रायः अभिग्रह किए जाते हैं । तपस्वीजी म० कठिन से कठिन अभिग्रह धारण करते किन्तु वे आपके अन्तराय के क्षयोपशम (तप प्रभाव) से शीघ्र ही फल जाता था ऐसा प्रसंग कभी उपस्थित नहीं हुआ कि अभिग्रह नहीं फलने के कारण आपको कभी तेला भी करना पडा हो । आपके कठिन अभिग्रहों में से कतिपय इस प्रकार हैं:—

पाली में विराजते हुए आपने अभिग्रह किया कि दूसरे विवाह की धर्मपत्नी के साथ कपडे से कपडा बन्धा हो ऐसे दम्पत्ति चांदी की कठोरी में दाल का हलुवा बहरावे तो पारणा करना । आपका यह कठिन अभिग्रह भी पाली निवासी श्री हीराचन्द्रजी डागा के यहां शीघ्र ही फलित हुआ ।

इसी तरह जयपुर में विराजते हुए आपने अभिग्रह किया कि अगर दीवान श्री नथमलजी सा० अपनी मूंछ के दाहिने भाग के बाल बहरावें तो पारणा करना। यह अभिग्रह भी फल गया

आपने ब्यावर के चातुर्मास में यह अत्यन्त कठिन अभिग्रह अंगीकार किया कि जिसका दूसरा विवाह हुआ हो अक्षय तृतिया को शादी हुई हो, और दम्पत्ति प्रसन्नता के साथ स्वेच्छापूर्वक यावज्जीवन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करें तो पारणा करना । यह कितना कठिन अभिग्रह है । युवा अवस्था में पति पत्नि के मौजूद रहते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है । ऐसा होते हुए भी तपस्वीजी के तप प्रभाव से यह अभिग्रह भी फल गया । विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ कि करीब ३५ वर्ष की उम्र में सांड जातीय दम्पत्ति ने यह कठिन कार्य कर दिखाया । युवा दम्पत्ति ने स्वेच्छापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार किया । इस बन्धु की थोडे ही समय पूर्व दूसरी शादी हुई थी । सबसे अधिक धन्यवाद है उस धर्म परायणा नवयौवना पत्नि को जिसने इतनी छोटी अवस्था में यह घोर व्रत स्वीकार किया । सबके मुंह से बरवश धन्यवाद की आवाज गूंज उठी ।

तपस्वी जी का तप-प्रभाव

तपश्चर्या में अजब गजब की शक्ति होती है । उसकी महिमा अचिन्त्य है । तप और तपस्वीयों के चमत्कारिक प्रभाव को बताने वाली घटनाओं के वर्णन से अनेकों ग्रन्थ भरे पडे हैं । तपश्चर्या का चमत्कार भावुकों की कल्पना मात्र नहीं अपितु वास्तविक

सत्य है । तपस्वीजी के तप प्रभाव में भी चमत्कार के दर्शन होते हैं । आपके प्रभाव से कठिन प्रतीत होने वाले कार्य भी सरल बन जाते थे । किसी आपत्ति में पड जाने पर सैंकडों जैन और जेनेतर आपकी राह में आंखे बिछा देते थे । जनता का यह विश्वास था कि तपस्वीजी महाराज के प्रसाद से सब संकट दूर हो जाते हैं । तपस्वीजी महाराज को सहज रूप में अपनी दिनचर्या में संलग्न रहते उन्हें मालूम तक नहीं होता कि अमुक व्यक्ति को अमुक बाधा थी और वह दूर हो गई मगर आर्तजन आकर आपसे निवेदन करते कि महाराज ! मैं छः मास से दुःखी था, घर में बीमारी बनी ही रहती, व्यापार में नुकसान हो रहा था, न्यायालय में कई मुकदमे चल रहे थे किन्तु आपके पधारते ही एक एक करके सब संकट टल गए सब आपके चरणों की महिमा है ।

तपस्वी जी महाराज फरमाते--भाई ! सब धर्म का प्रभाव है । धर्म की आराधना में चित्त लगाओ । धर्म परम मंगल है । उससे सब संकट दूर होते हैं । तपस्वीजी म० के तप प्रभाव के कारण आपके वचन सर्वमान्य होते थे । आपके वचन कभी निष्फल नहीं होते । लोगों के अनुभव की बात है कि जिस दिन आप दया व्रत करवाने की भावना करते उस दिन जोधपुर के बाजार में जाते । आपको पधारते हुए देखकर सब लोग आदर के लिए खडे हो जाते और आपकी आज्ञा पाने की प्रतीक्षा करते । तपस्वीजी म० किसी भी व्यक्ति का नाम लेकर फरमाते कि कल दया-व्रत की आराधना होनी चाहिए । वह व्यक्ति प्रसन्नता पूर्वक आपकी बात स्वीकार कर लेता था । आपके वचन कभी खाली नहीं गये । जोधपुर में और अन्यत्र भी सैकडों नरनारी आपके सदुपदेश से जैन बने और आज भी उनके कुटुम्बी जैन धर्म में दृढ-श्रद्धा रखते हुए धार्मिक जीवन बिता रहे हैं ।

तपस्वीजी का आत्म बल भी उच्च कोटि का था । ब्यावर के चातुर्मास में आपको अचानक लकवे की शिकायत होगई । आपने शीघ्र ही चौविहार तेला कर दिया । बस क्या था ! देखते देखते आपकी व्याधि दूर होगई । यह है तप का चमत्कारिक प्रभाव !

तपस्वी जी म० के शिष्य

संवत् १९३८ में श्री हंसराज जी सिंघी ने आपके पास दीक्षा धारण की । आपके कुटुम्बी पुरुषों ने दीक्षा में बडा रोडा अटकाना चाहा मगर तपस्वीजी के सामने आते ही सब विरोध करने वाले शान्त हो गये । संवत् १९५१ में जयपुर

निवासी श्री सुजानमलजी पाटनी ने नागौर में आपके सामने दीक्षा ली। समय पर दीक्षार्थी के बड़े भाई श्री कस्तूरचन्दजी और श्री फूलचन्दजी पाटनी ने आज्ञा प्रदान की। चैत्र शुक्ला दशमी को बड़े समारोह के साथ दीक्षा हुई। मुनिश्री सुजानमलजी म० को मुनि श्री हंसराज जी महाराज के नेश्राय में रक्खे।

तपस्वी जी के चातुर्मास-क्षेत्र

तपस्वी जी महाराजने ३६ वर्ष तक शुद्ध संयम का पालन किया। आपने (१) बड़लू (२) हरसोलाव (३) महामन्दिर (४) फलोदी (५) रतलाम (६) नया-नगर (७) पीपाड इन सात नगरों में एक एक चातुर्मास किया। अजमेर में दो, नागौर में चार, पाली में सात, जोधपुर में आठ और जयपुर में आठ इस प्रकार कुल ३६ चातुर्मास किये।

अन्तिम जीवन

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ३३ वर्ष तक आप यथाकल्प विचरण करके धर्म की प्रभावना करते रहे। इसके बाद आप जयपुर में ३ वर्ष १८ दिन तक स्थिर वास रहे। जब आपका जयपुर मे पदार्पण हुआ तब जनता अत्यन्त प्रसन्न हुई। जनता ने अत्यन्त आग्रह पूर्वक चातुर्मास के लिए विनती की। महाराजश्री ने भक्त जनों का आग्रह देखकर विनती स्वीकार की। इसके बाद विहार करके नगर के बाहर बगीचे में विराजे। बाद में सांगानेर विराजे। इस तरह दो मास और पाँच दिन के बाद पुनः चातुर्मास के लिये पधारे। आपके विराजने से धर्मध्यान का ठाठ रहा। चातुर्मास आनन्द के साथ पूर्ण हुआ।

मार्गशीर्ष कृष्णा १ को बिहार करना था मगर उस दिन वर्षा हो जाने के कारण बिहार न हो सका। दूसरे दिन एक संत के शरीर में व्याधि उठ खड़ी हुई। इससे कई दिनों तक आपको वहीं ठहरना पड़ा। अन्य साधु बीच में बिहार कर गये थे। मार्गशीर्ष शुक्ला १ को तपस्वीजी महाराज विहार कर बाहर पधारे। संयोगवश गोचरी के लिये जाते हुए आप गिर पड़े। तीव्र वेदना होने लगी। अतएव उपचार के लिए पुनः शहर में आना पड़ा। उपचार करने से शान्ति हुई। शांति होने के बाद महाराज श्री ने विहार की तैयारी की। जयपुर के श्रावकों ने आपकी शारीरिक शक्ति बिहार के योग्य न जानकर वहीं विराजने के लिए आग्रहभरे शब्दों में प्रार्थना की। मुनि श्री उनकी साग्रह विनती को टाल न सके और वहीं विराजना स्वीकार किया।

संवत् १९५४ के फाल्गुन में श्री चन्दनमलजी म० दर्शनार्थ पधारे। इस समय तपस्वीजी म० ने अपनी आयु को अल्प जानकर उनके समक्ष आलोचना की। सं० १९५५ मार्गशीर्ष कृष्णा १३ को श्वास की व्याधि हो गई। मार्गशीर्ष शुक्ला बीज को श्री चन्दनमल जी म० पधारे। दर्शन से बहुत प्रसन्नता हुई। तपस्वीजी की श्वास व्याधि को मिटाने के लिए बहुत से उपचार किये गये। तपस्वी जी म० ने अपना अन्तिम समय जानकर पूज्य श्री विनयचंदजी म० और श्री यशराज जी म० आदि मुनिराजों से क्षमा प्रार्थना करने के लिए साधुओं को भेजे। चतुर्विध श्री संघ से और चौरासी लाख जीव योनि से मन वचन और काया के द्वारा आपने क्षमा याचना की।

वैशाख कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि में ४ बजे के पश्चात् संतों ने तपस्वीजी म० को वन्दना कर सुख शांति पूछी। प्रतिक्रमण करने के बाद तपस्वीजी महाराज ने शुद्ध भाव से चतुर्विध आहार का त्याग किया। आपने समीप के संतों को फरमाया कि "इस समय मेरा चित्त उत्तम समाधि में है। यदि इस समय में शरीर का त्याग करूं तो उत्तम गति का अधिकारी बनूं।"

आश्चर्य की बात है कि तपस्वीजी म० के ऐसा कहने के क्षण भर बाद ही उनकी अमर आत्मा ने परलोक के लिए प्रयाण कर दिया।

भक्तजनों ने विषादपूर्ण हृदयों से तपस्वीजी की देह का अग्नि संस्कार किया। सबके मुख से तपस्वी जी म० की प्रशंसा ही निकल रही थी। उनके गुणगान के द्वारा जनता अपने दुखी हृदयों को शांति दे रही थी।

तपस्वीजी म० ने छत्तीस वर्ष और साढे पांच मास से कतिपय दिवस अधिक काल तक निर्मल संयम पाला। ६१ वर्ष की अवस्था में आप स्वर्ग सिधार गये।

आपका तपोमय जीवन दूसरों के लिए आदर्शरूप है। आपने निष्काम भावना से तपोमय जीवन व्यतीत किया। आपकी महिमा सर्वत्र फैली। यह आपकी तपश्चर्या का गौण फल मात्र था। आपकी इतनी महिमा होने पर भी आपकी सरलता और निरभिमानता सचमुच अनुपम और अनुकरणीय थी। आपकी स्तुति और प्रशंसा में अनेक कवियों ने रचनायें की हैं उनमें नागोरनिवासी श्री उदयदान जी की रचना प्रशंसनीय और उल्लेखनीय है। उक्त कवि ने ९ रासा करके ९ ढाल में गुण वर्णन किया है। इसके बाद मुनि श्री सुजानमल जी म० तथा सती श्री जड़ावा जी म० आदि की रचनायें भी सुन्दर हैं। इन सभी रचनाओं से तपस्वीजी म० के गुणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

धन्य है ऐसे आदर्श तपोधनी महापुरुषों को.

पूज्य श्री कुशलजी महाराज

कुशलः परोपकारे कुशलः शश्वत्सदाचारे ।
कुशलस्तीर्थ चतुष्टयतुष्टय आख्यात आख्यया कुशलः ॥१॥
चत्वारि तीर्थानि समेधयन्त : स्वोपासकानागममादिशन्तः ।
निजाऽवसानं वयसाऽवसाय प्राऽदुः सुयोग्याय पदं निजंते ॥२॥
जिनाऽऽगमज्ञान गुणेनगण्य : क्षमा दयाऽऽराधनया सुधन्यः ।
महाव्रत-व्रात निरस्ततन्द्रः पूज्योऽभवत्साधु गुमानचन्द्रः ॥३॥
नैजं कालमपालयन्मुनिगुणानौन्नत्यमेषोऽनयत्,
श्रद्धा श्राद्धजने ततान विपुलां कीर्तिं परां सन्दधे ।
मर्यादास्खलनां मनागपि निजे तीर्थे न सेहे स हि,
प्रस्थान सुरसद्म गन्तुमकरोत् संसिद्धसाध्यो मुनिः ॥४॥
यत्नो यस्य महोन्नतः प्रतिपलं देदीप्यमानो बभौ
चर्या यस्य निसर्गजा निरुपमा प्राचार्यतामभ्यधात्
पूज्योऽयुज्यत सम्प्रदाय निवहं निर्वोढुमर्हो महान्
तन्नाम्ना निज सम्प्रदायमकरोत्— श्री रत्नचन्द्राऽभिधम् ॥५॥

पूज्यों के प्रति श्रद्धाञ्जलियाँ

(१) प्रथम पूज्य श्री कुशलदासजी महाराज।

(द्रुत विलम्बित छन्द)

कुशलमेव सदानिखिलं खिलं, खलबलं विकलं खलु किल्विषम् ।
कुशलदास इति प्रथमो यतः, सदुदधौ सुदधौ मुनि पूज्यताम् ॥१॥
स्वच्छ पद्धति विधुपमः स्वके गच्छ आर्हत महाव्रतो व्रती ।
आततान कृति-कीर्ति कौमुदीं कौमुदीमपि जयन् स जित्वरः ॥२॥

उप जाति—

ख्यातस्ततः सोऽत्र गुमान चन्द्रः
सदागमाराधन वीत-तन्द्रः
सत्संयमे यस्य न कोऽपि रन्ध्रो-
गाम्भीर्यतोयस्य लघु समुद्रः

शिखरिणी—

व्रतव्राते यस्या भयदिह महा गौरवमथो
यशोव्राते जाते विधुरपि विधृतः स्वमहमा ।
निजाख्या पूर्वार्द्धं सफलित सदर्थनरगिरा
परार्द्धं चान्वर्थं विहितममुना नाम सकलम् ॥

उपेन्द्रवज्रा—

महार्घ्यभावाज्जन निर्विशेषम्
आह्लादकत्वात्कुल संक्रमाच्च ।
गुमानचन्द्रादनु रत्नचन्द्रः
पूज्यो यथा दीपभवः प्रदीप :

शार्दूल विक्रीडित छन्द—

प्राचीना चरिता प्रतीच्यपदवी भाजां समाजान्तिके
मर्यादामणुमात्रमक्षततमां दक्षो विधातुं क्षमः ।
संप्रेक्ष्यार्हत तन्त्र सागर लसत्प्रज्ञः समज्ञाचणः
पूज्योऽयोजि चतुर्थतीर्थमहितो हम्मीर मल्लोमुनिः ॥६॥

वंशस्थ छंद—

चतुर्विधं तीर्थमनर्थमूलात्सन्तारयंस्तज्जगदब्धिकूलात् ।
हम्मीरमल्लो दिवि देव पूज्यःकजोडि मल्लं स्वसपदे न्ययुंक्त ॥७॥

वसन्ततिलका छन्द:

यातें सुराऽतिथिपथे प्रथित-प्रतापे
पूज्ये नियोज्य निहितात्मभरेऽत्र पूज्यः ।
भव्यो भवेदिति विभाव्य सदर्थपद्यैः
सुश्रावकै-र्विहित एष विनीति-चन्द्रः ॥ ८ ॥

शिखरिणी—

स्वनाम्नः पूर्वार्द्धो विनय इति भक्तेषु निहितो
विरक्ते सक्तेऽपि-स्वकहृदिपरार्द्धो मतियुतः ।
विभक्तस्तच्छक्त्या विपुलनिजसङ्घेऽद्रचदसौ
दयागंगा पूज्यान्मुनि विनयचन्द्रात्समुदिता ॥९॥

शार्दूल विक्रीडित छन्द—

तीर्थाराधन-संविधान-निपुणः प्रोन्नीत तीर्थापणो
ग्रन्थ-ग्रन्थि-परिष्कृतौ प्रकृतितः सद्वृत्त-सल्लक्षणः ।
शोभाचन्द्र मुनीन्द्र आप-परतो-दुष्प्राप पूज्यास्पदं
व्युत्पन्नं बहुमन्यते बुधजनो यं साधु-सत्सम्मदम् ॥१॥

शार्दूल विक्रीडित छन्द—

यः शिष्यान् प्रशशांस यं मुनिगणः प्रत्यास धर्माशया
येनासादि यशो मुनिः स्पृहयते यस्मै न यस्मात्स्मयः ।
यस्मिन्नस्तमगा समस्त-निजता वैमत्यमन्धन्तमः
सोऽपित्यक्त जगज्जगाम जगतः शोभेन्दुरस्ताचलम् ॥

स्वर्गीय पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी महाराज के प्रति

श्रद्धांजलि

दोहा—एके सम्पत शील की, रतन बसे निहराग ।
लाल सिंघ के बाग में, लाल चंद के भाग ॥ १ ॥
थिर जीधाणें रतन मुनि, पुन वभूत परधान ।
घरघर सुख संपत धरम, तखत तखत नृपमान ॥ २ ॥
रतन मुनी साचों रतन, पुहवि परम प्रकाश ।
किता जनां उर में करें, अवगुण मेटि उजास ॥ ३ ॥
तो मुख सुण वाचा तिकै, साँचा भक्त संधीर ।
भव पावे भव पद मलम, सत जत सुदृढ़ शरीर ॥ ४ ॥
धाम तजे ते रतन मुनि, पायो अविचल धाम ।
दाम तजे ते सिंघ–गल, बांधी समकित दाम ॥ ५ ॥
अनमत वारे दंभ जुत, डारत वृषभन हाथ ।
सिंघन नाथन रीत तो, रही रतन मुनि साथ ॥ ६ ॥
एक हि गुण तै रीझते, अवगुण ढांक करोर ।
रतन जिती ही सादगी, जग सिर रही मरोर ॥ ७ ॥
सोरठा–पूज तिहारो पोख, पिता मात सूं ही प्रबल ।
भर पाया ही मोख, चित किम विसरै रतनचन्द ॥ ८ ॥
दोहा—गुरू चिन्ता मणि रतन तै, मन चिन्त्या फल लेत ।
अब चिंता मन छय रही, कि किन्त्या मन चेत ? ॥ ६ ॥
उर जुरदी गुरू रतनजू, सुर पुर पर जातां ।
झुर झुर पंजरियों पडसी, पुर पुर पछतातां ॥ १० ॥
लाल विना रिख रतन रे, आयो तस कर चाल ।
जाहिर आतो काल तों, तो देखत करवाल ॥ ११ ॥
सवैया–लाखन पंथ लगाय लिये, जिन लाखन के उरमांझ विहारै
लाखन जाप जपै निस वासर, लाखन सीसन पै पगधारै ॥
कोराहि कोरन जीव अभैकर, सिद्धशिला पर आसन ढारै ।
श्री गुरू रत्न सदा चिर जीवहि, कैसे कहे परलोक पधारै ॥ १२ ॥
मंदाकिनि के नीरसौ, पूज धीर वर वीर ।
रतन पाट जग पीर हर, दूजो वीर हमीर १३

भंडारी लालचन्द जी

भवियण सांसो भांवता, कवियण करता काज ।
रवियण जुंहुतो रतन, आथमियो मुनिराज ॥१॥
सतजुग रा परसंग थीं, आगे हुआ अनेक ।
कलयुग में सतयुग कियो, रतन चन्द मुनिएक ॥२॥
पूज रतन रै पाटवी, हीरा जेम हमीर ।
गादी बैठो बहु गुणो, धरम धुरन्धर धीर ॥३॥
सुरग पधारे रतन मुनि, कर सुकृतराकाज ।
एक एकसूं इधक है, लारै ही रिख राज ॥४॥

भंडारी श्रीचन्द जी

सोरठा—कर सुकृतराकाज, पायो ते वैकुंठ पद ।
रतनचन्द रिखराज, अमर हुओ आखै जगत ॥१॥
दोहा—पूज परम गुरू बिछुरतां, फाटी तिथि तिहुवार ।
रे रे हृदय धीठ अति, तूं न फट्यो तिहकार ॥२॥

गंभीर मल्ल जी

पैलो डर नार रो, तिका तो पड मुई कूवे ।
दूजो डर बापरो, तिको रम मुओ जूवे ।

इस पर श्री पूजजी महाराज ज्ये० शु० ११ रे दिन कुंभट हरपचंद नै पाछो नवो बणाय श्रीमुखसूं फरमायो

पैलो डर नार रो, तिको तो परणी ने सुख लीधो
दूजो डर बापरो, तिको हाथ पकर जूदो किधो
तीजो डर गाँठरो, तिका सैठी बंधांणी
चोथो डर कमावणरो तिका खूब कमाणी

डर डर सहु पिछे दिया, दूजो डर नहीं जाणियो ।
धरम जिन राजरो करतो थको, डरै न हरको बाणियो ॥
दोहा—धरमध्यान सुध करौ, धरौ धरम सूं पीत ।
मुनिवर जी नी सीख ए, मोह करम लो जीत ॥१॥

मोपे हिव कीजे मया, रतन चंद मुनी ईस ।
मैं तो सरणो आपरो, गहियो विस वा वीस ॥२॥

भंडारी हजारीमल जी

सोरठा—तृण इव जग सुख तोड़, विध विध तन तावां विपुन ।
मुनिराजां सिर मौड़, मिलै कहूं जो रतन मुनि ॥१॥
होती करां हजार, अण होती कथ आदरां ।
ऊसागे अणगार, मिले कहूं जो रतन मुनि ॥२॥
अड़सठ तीरथ न्हाय, कठण व्रत धारण करां ।
मम यह भव रे म्हांय, मिले कहूं जो रतन मुनि ॥३॥
त्यागी यती तपेश, जंत्री, मंत्री, जोतसी ।
सेवा करां हमेश, मिले कहूं जो रतन मुनि ॥४॥
जिन विन त्यागी जीव, अवर देवरी आसता ।
सोइ करां सदीव, मिले कहूं जो रतन मुनि ॥५॥
श्रम हित सीस निवात, तन न लगातो अहल तन ।
गाढ़ो गहां सुगात, मिले कहूं जो रतन मुनि ॥६॥
उपजत भ्रम चित आण, मन सांसो सहु मेटतां ।
साधु परम सुजाण, मही फिर आवो रतन मुनि ॥७॥
वाणी सुधा वखांण, मन अज्ञान विष मेटवा ।
निर मल देवा नाण, मही फिर आवो रतन मुनि ॥८॥
करण विषय रै काज, बूडे जग भवदधि वृथा ।
ज्यौं राखण हुवा ज्याज, मही फिर आवो रतन मुनि ॥९॥
मोहजाल जिय मीन, करम कीर काठो कियां ।
दुसह टाल दुखदीन, मही फिर आवो रतनमुनि ॥१०॥
सुबुधी चखां समाज, मत मिथ्यात छाया मढै
समकित अंजन साज, मही फिर आवो रतनमुनि ॥११॥
दुय मुहुरत दिन वेस, सजुडै श्रावक श्राविका ।
देवा ज्यो उपदेश, मही फिर आवो रतन मुनि ॥१२॥
वामे दोलत वेस, ज्यों हमीर दाहण भुजा ।
तामझ रतन मुनेस, नैणां कदे निहारसां ॥१३॥
सतदस संजम साज, पंच महाव्रत पालतौ ।
मुख मीठो मुनिराज, नैणां कदे निहारसां ॥१४॥

पांच सुमत परवीन, तीन गुपत राखत रजू।
काया तप कृशकीन, नैणां कदे निहारसां ॥१५॥

करतो चउ न कषाय, कथ विषाद जिह ना करत।
सतवादी सिधराय, नैणां कदे निहारसां ॥१६॥

तन मन कर नित देत, अभयदान छउकाय नें।
नाण चरित्र निकेत, नैणां कदे निहारसां ॥१७॥

पड़ जननी रे पेट, त्रिया स्पर्श कीधो न तन।
सिवपुर कियो सहेट, नैणां कदे निहारसां ॥१८॥

चोपन वरस विचाल, साधपणो पाल्यो सरस।
सह्या परीसा स्वाल, जैन धरम उजवालियो ॥१६॥

धन माता तिह जनक, धन, सद् गुरु धन गुमनेश।
धन सेवा किए साधुते, रिखी धनो रतनेश ॥२०॥

उगणीसै एके अब्द, जेठ शुक्ल दश वार।
नोधाणों रतनेश जद, वयकुंठ कियो विहार ॥२१॥

कुंडलियां—अनमिष तोनै ओलभो, नित आवै नरनार।
रतन मुनीश्वर मारतां, अनरथ कियो अपार॥

अनरथ कियो अपार, अजर जरग्यो अजरायल।
दियो हुतो महावीर, कलू नूं करतो कायल॥

भव जीवां प्रतिबोध, रसा में देतो ओरिख।
कीनो खोटो काम, ओलभो तोनै अनमिस ॥१॥

अनमिख (ष) आवै ओलभो, मानव देज्यो मत।
रतन हरयो इन कारणे, पूज कियो सुरपत ॥२॥

मूथापनराजकृत कवित्त—

जैसे जम्बूदीप मांझ राजे दोय मारतंड, एक आथ में तो एक उदे होत आन है।
जैसे पूज श्रीरतन छांडतन अस्त भये, भव्य जन मन में अपार दुखमान है।
भव्यजनां भाग जिनराज को दिपावै माग, त्यागरू वैराग पुंज जिनवाणीजान है।
गुणां को गंभीर धीर विराजै त्रिलोकतीर, पूज्य श्री हमीर उदै भयो दूजोभान है।

दोहा—परम महर कर पूज्यजी, दीनो दरस दयाल ।
वेगा कवल विहार रो, कद में कियो कृपाल ॥१॥
आहिज मरजी आपरी, अरजी आ अवधार ।
दरसन वेगो दीजियो, पावां हरष अपार ॥२॥
स्वारथ परमारथ सफल, सूर उदे सुखसीर ।
उभयलोक आनन्द व्है, है लहि कृपा हमीर ॥३॥
आखां जो हजार जीभ करी ने गुणारो ओव,
गिणयां पार आवे नहीं ज्ञानरो गम्भीर ।
भणे देश घणा भव्यजनारो आधार भारी ।
हमारी वंदना पदां पंकजा हमीर ॥१॥

कुंडलिया गम्भीरमल्ल कृत—

रतन त्रय उरधार के ज्ञान गुणै गम्भीर,
सहन परिषय वीसद्दै; साहसीक मतधीर ॥
साहसीक मतधीर, प्रकट छऊं काया पालै ।
निर्दूषण लै आहार, दूर सब दूषण टालै ॥
जती धर्मदशजात, बाड़ सहित ब्रह्म ज्ञ त्तन ।
सप्तवीस गुण शोभ, निजै गुण धारक रत्तन ॥
दोहा—गुण सिन्धु सामी गहर, क्रमसाखी समक्रान्त ।
जो नरको भेटे जिन्हें; भागे भ्रम की भ्रांत ॥१॥

पूज्य श्री शोभाचन्द्र जी महाराज

पूज्य विनय चन्द्र जी म० के बाद पूज्य शोभाचन्द्र जी म० रत्नवंश के उत्तराधिकारी बने। आपका विशेष परिचय "अमरता का पुजारी" नामक स्वतन्त्र पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुका है, अतः यहां उनके जीवन-वृत का संक्षिप्त परिचय-मात्र दिया जाता है।

आपका जन्म वि० सं० १९१४ कार्तिक शुक्ला ५ को मरुधरा की राजधानी जोधपुर में हुआ। आपके पिता श्री का नाम भगवानदास जी छाजेड़ था। २३ वर्ष की अल्प-वय में आपने पूज्य कजोड़ीमलजी म० के मधुर, मोहक प्रवचन से प्रभावित होकर वैराग्य प्राप्त किया। वि० सं० १९२७ के माघ शुक्ला ५ को जयपुर नगर में आपने मुनिव्रत ग्रहण किया।

"अमरता का पुजारी" पुस्तक में आपकी दीक्षा जोधपुर में बताई गई है। किन्तु अब जानकारी मिली है कि आपकी दीक्षा जयपुर नगर में हुई थी। तदनुसार यहां सुधारा गया है।

पूज्य श्री कजोड़ीमल जी म० के शिष्य होने पर भी आप अधिकांशतः अपने गुरु-भाई श्री विनय चन्द्र जी म० के पास ही रहे और उन्हीं की संगति में ज्ञानाराधन का लाभ उठाया। पूज्य श्री विनय चन्द्र जी म० के शारीरिक कारण से आप उनकी सेवा में १४ वर्ष जयपुर में ही रहे।

आपकी निर्मलता और गुरु-भक्ति इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि किसी को आपसे असन्तुष्ट होने का अवसर ही नहीं मिल पाया। क्या श्रावक और क्या संत, सबके हृदय में आपके प्रति स्नेह और सम्मान था। सेठ नथमल जी के चौक में स्थित पूनम चन्द जी वैद के नोहरे में वड़े पूज्य श्री म० के साथ आप अधिकांश रहे। सेठजी बड़े साधुभक्त एवं दानी थे। सन्तों को साता पहुंचाने की भावना सतत उनके मन में जागृत रहती थी और वे उचित रीति नीति से अपनी सदिच्छा का लाभ भी उठाते रहते थे।

पूज्य श्री विनय चन्द्र जी म० की नेत्र-ज्योति चली जाने से प्रातः कालीन व्याख्यान और तीसरे पहर का शास्त्र-वाचन आप ही किया करते थे। पूज्य विनय चन्द्र जी म० अनुकूलता रहते अर्थ फरमा दिया करते थे। व्याख्यान में दोनों समय श्रावक श्राविकाओं का तांता सा लगा रहता था; जिनमें श्रावक केशरी मल जी मूसल, केशरी मल जी चोरड़िया और राजमल जी कोठारी शास्त्र ज्ञान के विशेष रसिक थे। अन्यान्य श्रावक गणों की भक्ति भी सराहनीय थी। वि० सं०

१६५६ से ४—५ वर्ष तो आप पूज्य श्री के साथ सेठ सोभागमल जी ढड्ढा के नोहरे में विराजे और फिर स्थिरवास का संपूर्ण काल पूनमचन्दजी वैद के नोहरे में बिताया। इस दीर्घ स्थिरवास के समय में आप पूज्य श्री की सेवा भी करते और साधु साध्वियों को शास्त्रवाचना भी देते। शास्त्र-वाचना के समय पूज्य श्री पास ही विराजते और अपनी अपूर्व धारणा शक्ति के बल पर जब किसी जगह अनुस्वार, मात्रा आदि की भी स्खलना होती तो कहते—"शोभा! यों नहीं, यों है।" उस समय का आपका विनय एवं भक्ति-भाव दर्शनीय होता था।

स्थिरवास काल में पूज्य श्री श्रीलालजी म०, श्री देवीलालजी म० श्री छोटेलाल जी म०, श्री तारा चन्द जी म०, श्री पूर्णमल्ल जी म० और पूज्य माधव मुनि आदि जो संत इधर पधारे, आप सबके साथ प्रेम-पूर्वक वात्सल्य भाव रखा करते थे। पूज्य माधव मुनि जी के संग तो सम्पर्क इतना बढ़ गया था जैसा एक गुरु और शिष्य में भी विरला ही पाया जाता है। दोनों के पारस्परिक शुभ स्नेहानुबन्ध को देखकर दर्शकों के लिए यह समझना कठिन था कि आप दोनों दो भिन्न भिन्न संप्रदाय के संत हैं या एक गुरु के।

वि० सं० १६२७ से १६७२ तक का काल आपका पूज्य श्री कजोड़ी मल जी म० और प्रायः विनय चन्द जी म० की सेवा में बीता। केवल १०—११ चातुर्मास, खास कर संवत् १६७३ से ८३ तक आपने स्वतन्त्र रूप से किये हैं। वि० सं० १६७२ के मार्गशीर्ष कृष्णा १२ को जब पूज्य श्री विनयचन्द्र जी म० का स्वर्गवास हो गया, तब आपने मारवाड की ओर विहार किया।

अजमेर में स्वामी जी श्री चन्दन मल जी म० की सहमति से वि० सं० १६७२ के फाल्गुन कृष्णा ८ को आपने आचार्य-पद स्वीकार किया। आचार्य-पद के अवसर पर पूज्य श्री श्रीलालजी म० भी अजमेर पधारे हुए थे। स्वामी जी के कहने पर पूज्य श्री ने अष्टमी तक विराजना मंजूर किया और स्वामी जी एवं पूज्य श्री श्री लालजी म० के हाथों, चतुर्विध संघ के समक्ष आपको आचार्य-पद की चादर ओढ़ादी गई। मुनिमंडल और श्री संघ में प्रेम-मिलन का यह सुहावना दृश्य सभी के लिये अपूर्व था।

आचार्यपद के बाद जोधपुर के श्रावक संघ ने प्रार्थना की कि जयपुर एवं अजमेर को आपके प्रथम चातुर्मास का लाभ तो मिल गया है, अतः अब आचार्य पद-महोत्सव से वंचित जोधाणे को चातुर्मास का लाभ मिलना ही चाहिये। इस विनती के पीछे हम लोगों का नैसर्गिक अधिकार भी है, जिसे

आपको भुलाना नहीं चाहिए। आचार्य श्री ने फरमाया, जैसा अवसर होगा, देखा जायगा। अभी इस बाबत मैं कोई निर्णय नहीं देता। हां, मारवाड़ की ओर विहार करने के भाव जरूर हैं।

पूज्य श्री ग्रामानुग्राम विचरते हुए जोधपुर पधारे। संयोग–वश, आपका यह चातुर्मास जोधपुर में पेटी के नोहरे में ही हुआ। जोधपुर में इस वर्ष प्रसिद्ध-वक्ता मुनि श्री चोथमल जी म० का चातुर्मास भी था। फिर भी दोनों ओर प्रेम-पूर्वक खूब धर्म-ध्यान होता रहा। संघ और श्रवकों का भी प्रेम-सम्बन्ध बना रहा।

चतुर्मास पूर्ण कर, पूज्य श्री छोटे बड़े गाँवों को पावन करते हुए, पीपाड़ पधारे। वहां खबर मिली कि स्वामी जी श्री चन्दन मल जी म० का, ब्यावर के पास, इधर पधारते हुए आकस्मिक स्वर्ग-वास हो गया है। इससे पूज्य श्री के सदय हृदय को गहरी चोट पहुँची। आपने ज्ञान-बल से संतप्त मन को शांत किया।

स्वामी जी म० के शिष्य मुनि श्री खींवराज जी म० भी विहार कर यहीं पधार गए। पीपाड़ में सब संतों का समागम हुआ। कुछ समय तक विराज कर, संतों की सुख-शान्ति होने पर, पूज्य श्री ने बड़लू की ओर प्रस्थान किया। वहां कुछ दिन ठहरकर, आप नागौर की ओर पधारे।

चतुर्मास की विनती का समय हो जाने से बड़लू पीपाड़ और नागौर आदि के श्रावक-संघ वहां चातुर्मास के लिए आग्रह भरी प्रार्थना ले उपस्थित हुए नागौर में पूज्य श्री रत्नचन्द जी म० की संप्रदाय के सिंघी हीराचन्दजी सुराणा गणेश मल जी, कान मलजी तथा पूज्य श्रीजयमल्ल जी म० की संप्रदाय के लोढ़ा मिलाप चन्द जी आदि प्रमुख श्रावक थे। दोनों ओर के श्रावक पूज्य श्री की सेवा का लाभ लेते थे। संप्रदाय भेद होने पर भी सबका पारस्परिक प्रेम सौहार्द अच्छा था श्रावगी भाई और गोपी बाई आदि बहिनें भी पूरा लाभ लेते थे। पूज्य श्री ने पीपाड़ के श्रावकों का आग्रहातिशय देखकर, उन्हें साधु भाषा में चतुर्मास की स्वीकृति फरमादी।

कुछ दिनों के बाद नागौर से मूँड़वा, खजवाना, हरसोलाव होते हुए, बड़लू पधारे। मूँड़वा में माहेश्वरी भाईयों की बस्ती अधिक है। जैनों में केवल २-३ घर थे। श्रावगी बन्धु लक्ष्मी नारायण जी, मांगीलालजी और सूरज करण जी की पूरी भक्ति होने से, समय समय पर अन्य लोगों को भी लाभ मिलता रहता था। आज १—२ ओसवाल की दुकान होने पर भी वे सेवा का लाभ ले रहे हैं।

खजवाने में कोठारी और बोहरा, संघ के खास कार्यकर्ता हैं।

हरसोलाव में सुल्तानमल जी, प्रतापमलजी कांकरिया और जुगराज जी वागमार संघ के प्रमुख और धर्म में अग्रणी थे। महाराज श्री यहां से वारणी होते हुये बड़लू पधारे। वहां पहुंचने पर मालुम हुआ कि पीपाड़ में प्लेग का जोर चल रहा है। समय पाकर पीपाड़ के श्रावकों ने भी पूज्य श्री को अर्ज कराई कि हमारे दुर्भाग्य से पीपाड़ में प्लेग है अतः गुरुदेव अन्यत्र कहीं भी अनुकूलतानुसार अपना चतुर्मास फरमा सकते हैं। इस प्रकार संयोगवश यह वि० सं० १९७४ का चातुर्मास आपका बड़लू (भोपालगढ़) हुआ।

चातुर्मास पूर्ण होते होते खबर मिली कि पाली विराजित मुनी श्री खींवराज जी म० अस्वस्थ हैं; उनकी शक्ति विहार करने योग्य नहीं है, पूज्य श्री इधर पधारें तो मुनि श्री की दर्शनाभिलाषा पूर्ण हो जाय। सीधे रास्ते में पानी होने के कारण पूज्य श्री ने जोधपुर होकर पाली पधारना चाहा और कूड़ी होकर मार्गशीर्ष कृष्णा ७ को महामन्दिर पधार भी गये किन्तु हाथ में दर्द होने के कारण जल्दी विहार नहीं हो सका, जोधपुर ही विराजना रहा। सहसा मार्गशीर्ष कृष्णा १२ को, मुनि श्री का समाधि पूर्वक स्वर्गवास सुनकर पूज्य श्री को बड़ा खेद हुआ। पाली से श्री सुजानमलजी महाराज ठाणा ३ से जोधपुर, आपकी सेवा में आए। कुछ दिनों के बाद जोधपुर में बीमारी का प्रकोप होने से, पूज्य श्री मुनिमंडल के साथ पाली पधारे और कुछ दिन विराजने के पश्चात् सोजत की ओर विहार किया। वहां से मुनि श्री भोजराज जी म० को ठाणा ३ से पीपाड़, महासती जी को दर्शन देने के लिए भेजकर आपने ब्यावर की ओर विहार किया।

पूज्य श्री के ब्यावर पधार जाने पर जयपुर के गणमान्य श्रावक चातुर्मास की विनती के लिये पूज्य श्री की सेवा में ब्यावर पहुँचे। उन लोगों के आग्रह और भक्ति भाव को देखकर पूज्य श्री ने समाधि-पूर्वक बिना कारण जयपुर चातुर्मास करने के भाव फरमा दिए। इस तरह आप ब्यावर से खरवा मांगलियावास होकर चैत्र शु० ६ को अजमेर पधार गए। अजमेर आपको स्वास्थ्य ठीक नहीं होने से लगभग दो मास तक विराजना पड़ा। पूर्ण स्वस्थ होने पर आप किशनगढ़ होते हुए जयपुर पधारे जहां कि इस वर्ष का चातुर्मास निश्चित हुआ था।

चातुर्मास पूर्ण होजाने के बाद ही अचानक माधोपुर से खबर आयी कि महासती जी नल्लांजी के पैर में एक घातक जहरीला घाव होजाने से उनकी पूज्य

श्री के दर्शन प्राप्त करने की अंतिम इच्छा यदि पूर्ण हो सके तो आचार्य श्री के सेवामें निवेदन किया जावे। आचार्य श्री ने माधोपुर प्रांत पहले कभी नहीं फरसा था। अतः इस प्रसंग पर पूज्य श्री तीन संतों के साथ माधोपुर पधारे तथा महासती जी को दर्शन लाभ देकर, उनके काल कर जाने के पश्चात, आप थोड़े थोड़े समय के लिए सामपुर, उणियारा, बूंदी, कोटा रामपुरा आदि फरसते हुए धर्म प्रचार करते, झालरापाटण पधारे, तथा वहां से टोंक होते हुए आप जयपुर पधार आए।

इस प्रसंग में कोटा-रामपुरा के प्रमुख सेठ चुन्नीलाल जी का धर्म प्रेम तथा टोंक के सेठ माणकचन्दजी बावेल का सेवा-भाव विशेष प्रशंसनीय रहा।

ग्रीष्म का पूरा प्रकोप, अपने शरीर की दाहज्वला की वेदना तथा साथवाले संतों के स्वास्थ्य को देखते हुए, विहार की प्रबल इच्छा होते हुए भी आपको वि० सं० १९७६ का चातुर्मास पुनः जयपुर में ही करना पड़ा।

जयपुर चातुर्मास पूर्णकर पूज्य श्री किशनगढ़ होते हुए अजमेर और वहाँ से पुष्कर, थांवला, पादू होते हुए आप मेड़ता पधारे। थांवले गांव में अमी ऋषिजी की सेवामें रहने वाले मुनि लालचन्द जी पूज्य श्री से मिले। इनकी इच्छा स्वामीजी म० श्री हरखचंद जी की सेवा में रहने की थी। आचार्य श्री ने अवसर देखते हुए मुनी श्री लालचंद जी को पादू में बड़ी दीक्षा देकर स्वामी जी हरख चन्द जी म० की सेवा में उन्हें रख दिया।

छोटी पादू के प्रतिष्ठित श्रावक प्रतापमल जी सन्तोष चन्दजी के पास मेवड़ा गांव का एक लड़का नोकरी करता था। पूज्य श्री के उपदेश से इसका मन महाराज श्री की सेवा में रहने का हुआ। सेठ जी धर्म प्रेमी थे। पादू से मेड़ता की ओर विहार करने पर सेठ संतोष चंद जी ने इन को पूज्य श्री के साथ कर दिया। पूज्य श्री के पास वह अपना धार्मिक अभ्यास एवं ज्ञानार्जन करने लगे।

मेडता में सुल्तान मल जी धारीवाल बहुत सेवा-भावी थे। उन्होंने आचार्य श्री की सेवा का पूर्ण लाभ उठाया तथा वैरागी चौथमल जी को भी संभाला। वहां से विहार कर पूज्य श्री बड़लू पधारे। बड़लू से विहार कर ठाणा ३ से आचार्य श्री साथिन होकर पीपाड़ पधारे और गाढ़मल जी चौधरी की पोल में विराजे।

इस वर्ष का चातुर्मास जोधपुर में होने वाला था। किन्तु पींपाड़ से रीयां होते हुए जोधपुर पधारते समय आचार्य श्री को, दाहज्वला की शिकायत एवं भयंकर

ज्वर हो जाने के कारण पुनः पीपाड़ लौटना पड़ा। अतः संयोग वश यह वर्षावास पीपाड़ में ही व्यतीत हुआ। चातुर्मास की समाप्ति के उपरांत अजमेर से सेठ मगन मल जी द्वारा सूचना मिली कि स्वामी जी श्री हर्षचंद जी म० गोचरी पधारते हुए अव्यवस्थित ढंग से गिर पड़े और उनको गहरी चोट लगी है। इस समाचार ने बरबस पूज्य श्री का ध्यान अजमेर की ओर खींच लिया। मुनी श्री सुजानमल जी, भोजराज जी एवं अमरचंद जी म० ठाणा ३ को मारवाड़ की ओर भेज, स्वयं ठाणा ३ के साथ पूज्य श्री ने ब्यावर होते हुए अजमेर की ओर विहार कर दिया।

अजमेर में पीपाड़ निवासिनी वैराग्यवती श्री रूपाबाई जो बहुत अर्से से दीक्षा लेने को उत्सुक थी और अपने प्रियपुत्र श्री हस्तीमल जी को वैराग्य की साधना कराने हेतु कुछ महीनों से यहीं लाए हुए थी, पूज्य श्री के यहां पधार जाने पर उनकी सेवा में उपस्थित हुई और पूज्य श्री से दीक्षा देने के लिये जोरदार प्रार्थना की। पूज्य श्री ने वैराग्य रंग में रंगे दोनों दीक्षार्थीयों को अपने सदुपदेश से आश्वस्त किया। अल्पवयस्क श्री हस्तीमल जी को ज्ञानाभ्यास के लिये स्वामी जी श्री हर्षचंद जी म० की देख रेख में रखे हुअ था। इस तरह ज्ञानाभ्यास करते हुए श्री हस्तीमल जी और उनकी मातु श्री रूपाबाई को आचार्य श्री ने पूर्ण परीक्षा कर दीक्षा के लिये स्वीकृति प्रदान करदी। रीयां निवासी श्री रूपचंद जी गुंदेचा, लखमीचंद जी कवाड़ और अजमेर निवासी सेठ मगनमल जी के सद् प्रयत्नों से दीक्षार्थियों को उनके संबन्धियों द्वारा आज्ञा-पत्र मिल जाने पर माघ शुक्ला द्वितीया गुरुवार का दिन श्रमण दीक्षा के लिए निश्चित किया गया। वैरागी जी चौथमल जी और ब्यावर की वैरागिन की भी इसी दिन दीक्षा निश्चत हुई।

अजमेर के कतिपय श्रावकों का यह विचार हुआ कि ब्यावर में विराजित पूज्य श्री मुन्नालाल जी म० यदि इस अवसर पर यहां पधारें तो अति उत्तम हो। निश्चयानुसार पूज्य श्री की सेवा में निवेदन किया गया और उनके द्वारा इस अवसर पर अजमेर पधाने की स्वीकृति मिल जाने पर अजमेर के श्री संघ में इस महोत्सव के लिए धूम धाम से तैयारी शुरु हो गई।

वि० सं० १९७७ माघ शुक्ला द्वितीया गुरुवार का शुभदिवस भी आ पहुँचा। मोती कटला अजमेर में सुश्रावक सेठ मगन मल जी, गंभीर मल जी सांड, मिरह मल जी दूगड़ आदि की व्यवस्था में एक साथ वैरागी श्री चौथमल जी श्री हस्ती मल जी तथा ब्यावर की वेरागिन बाई एवं रूपकुंवर जी की दीक्षा हुई। समारोह के अवसर पर पूज्य श्री मुन्नालाल जी म०, प्रसिद्ध वक्ता पं०

मु० श्री चौथमल जी म० श्री मोखमसिंह जी महासती जी धनकुंवर जी, राधाजी आदि की उपस्थिति से अजमेर नगर तीर्थ स्थान सा बना हुआ था।

अजमेर श्री संघ की, इस दीक्षा प्रसंग पर की गई सेवा प्रशंसनीय है। अजमेर वालों का आग्रह था कि यह चातुर्मास भी आचार्य श्री का यहीं हो। उधर नागौर के श्रावकों ने भी आचार्य श्री को चातुर्मास के लिए विनती अर्ज की। आचार्य श्री ने परिस्थिति को देखते हुए, नागौर के लिए मुनि श्री सुजानमल जी आदि ठाणा ३ स्वीकृति देदी तथा स्वयंने वयो-वृद्ध स्वामी जी म० श्री हर्ष चन्द्र जी म० की शारीरिक असमर्थता को देखते हुये अजमेर श्री संघ की आग्रह भरी विनती को स्वीकृत फरमाया। और इस तरह यह वर्षावास मोतीकटला में सेठ छगनमल जी मगनमल जी के भवन में हुआ।

चातुर्मास काल में सेठ मगनमल जी की ओर से नव-दीक्षित मुनिवरों के पठन-पाठन की पूर्ण व्यवस्था की गई थी। चातुर्मास की समाप्ति के लगभग सतारा निवासी सेठ मोती लाल जी मूथा, जो उस समय कान्फ्रेंस के प्रधान-मंत्री थे, आचार्य श्री के दर्शनार्थ पधारे। आपके साथ कान्फ्रेंस के साप्ताहिक पत्र "जैन-प्रकाश" संपादक पं० दुःखमोचनजीझा भी थे। मूथाजी ने नवदीक्षित मुनिवरों के पठन-पाठन के लिए पं० दुःखमोचनजी झा को रख देने के अपने भाव आचार्य श्री के सम्मुख दर्शाये। आचार्य श्री ने पंडित जी को शास्त्र ज्ञान संबन्धी प्रश्न आदि पूछकर, सेठ जी को अवसरानुकूल करने के लिए आश्वस्त किया।

चातुर्मास समाप्त कर आचार्य श्री ने नागौर की ओर प्रस्थान किया। और वहां पधारने पर बीकानेर फरसने की बहुत समय से आपकी जो अभिलाषा थी उसे पूरा करने की भावना से गोगोलाव; अलाय, नोखा, देशनोक आदि गांवों को फरसते हुए आप भीनासर पधार गए। भीनासर के सेठ कनीराम जी बांठिया और खेमचंद जी आदि श्रावक बड़े धर्म प्रेमी थे। कुछ समय यहां विराज कर आचार्य श्री बीकानेर पधार कर गणेशमल जी मालू के नोहरे में विराजे। बीकानेर में धर्म प्रेमी बंधु बाबू आनन्दराजजी सुराणा, लाभचंदजी डागा व वहां के कतिपय गणमान्य श्रावकों ने आचार्य श्रीं के व्याख्यान आदि कीं व्यवस्था में बडीं संलग्नता से भाग लिया। इनका धर्मप्रेम सराहनींय है। बीकानेर के सेठिया अगरचंदजी भैरूंदानजी बड़े श्रद्धालु एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। आचार्य श्री के २७ दिवस के अल्प स्थिति काल में नव दीक्षित मुनि श्री हस्ती मल जी को संस्कृत पढ़ाने के लिए श्री सेठिया जैन विद्यालय से एक विद्वान पंडित की व्यवस्था सेठिया जी की ओर से करदी गई

थी। यहां से आचार्य श्री भीनासर, देशनोक होते हुए होली चातुर्मास पर नागौर पधार गए। वहां से कुछ दिन तक वहां विराज कर आप महामन्दिर होते हुए जोधपुर पधार गए। जोधपुर में श्रावक जी कस्तूरचंदजी सिंघवी के सुपुत्र श्री कानमल जी के अत्याग्रह से शेष-काल आप उन्हीं के नौहरे में विराजे। आपके यहां विराजते हुए श्रीमती सुकन कुं० बाई पारखनें, महासतीजी लाल कुं० जी महा० के पास, पूज्य श्री के समक्ष दीक्षा ग्रहण की। यहां से पूज्य श्री पेटी का नौहरा पधारगए और यह चातुर्मास आपका इसी स्थान पर हुआ।

चातुर्मास के दौरान में धर्मध्यान व तपस्या का विशेष ठाठ रहा। इस प्रसंग में तीन बाइयों ने मासोपवास अर्थात् एक मास पर्यन्त अनशन-व्रत स्वीकार किया-जिनके शुभ नाम थे—सिरे कुंवरबाई (श्री गोकुचन्द्रजी भंडारी की धर्मपत्नी) मानबाई कोलरी वाले, और लाडबाई अंधारी पोल वाले। चातुर्मास पूर्ण होने पर आचार्य श्री ने महामन्दिर की ओर प्रस्थान किया।

जोधपुर चातुर्मास में एक अपूर्व लाभ और हुआ जो विशेष उल्लेखनीय है। हरसोलाव के श्रावक श्री बच्छराजजी बागमार की धर्मपत्नी, अपने ज्येष्ठपुत्र श्री लूणकरणजी को लेकर सेवा में आई। और आचार्य श्री के सदुपदेश से वैराग्य रंग में रंगे श्री लूणकरणजी को अभ्यासार्थ उन (आचार्य श्री) की सेवा में रख दिए। आचार्य श्री ने वैरागी श्री लूणकरणजी को दृढ़मती जानकर दीक्षा देने की अनुमति प्रदान कर दी और जोधपुर शहर के बाहर, मूथा लिखमीं चन्दजी के मन्दिर में, वि० सं० १६७६ के मार्गशीर्ष पूर्णिमा को पूज्य श्री ने लूणकरणजी को दीक्षित कर, उनका नाम "लक्ष्मीचन्दजी" स्थिर किया और उन्हें मुनि श्री सुजानमलजी म० की सेवा में शिष्य तरीके घोषित कर दिया।

पूज्य श्री की वृद्धावस्था को देखते हुए, जोधपुर के प्रमुख श्रावक, शाहजी श्री नवरतनमलजी, श्री चन्दनमलजी कोचरमूथा, श्री तपसीलालजी डागा, श्री राजमलजी मुणोत, श्री छोटमलजी डोसी आदिने आचार्य श्री से जोधपुर में ही स्थिरवास विराजने की आग्रह भरी विनती की। आचार्य श्री ने, शरीर की असमर्थता को देखते हुए, विनती को स्वीकार कर, वि० सं० १६७६ माघ शुक्ला पूर्णिमा से स्थिरवास कर लिया।

इसी बीच जयपुर चातुर्मास पूर्णकर, माधवमुनि ने आचार्य श्री से मिलने के लिए जोधपुर की ओर विहार किया। पारस्परिक प्रेमानुराग की अधिकता से आपके पधारने की खबर पाकर पूज्य श्री को बड़ी प्रसन्नता हुई। पूज्य श्री ने

अपने नवदीक्षित मुनियों को पूज्य माधवमुनि के पास रखकर पढ़ाने की भावना व्यक्त की। किन्तु कुछ ही दिनों में दुर्दैव से खबर मिली कि पूज्य माधव मुनि जयपुर से मारवाड़ की ओर पधारते हुए, गाड़ोते ग्राम से आगे बढ़े कि सड़क पर चलते हुए ही जी घबराने से बैठ गए और प्रभु का शुभ ध्यान धरते हुए सदा के लिए चल बसे। पूज्य श्री का विचार कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका।

जोधपुर स्थिरवास विराजने की सूचना मिलने पर, सेठ श्री मोतीलालजी मूथाने, सब तरह से योग्य, पं० दुःख मोचनजी झा को, नवदीक्षित मुनिराजों के अध्यापन के लिए जोधपुर भेज दिया और आचार्य श्री की देख रेख में यह क्रम सुचारुरूप से चलता रहा। मुनि श्री हस्तीमलजी के अध्ययन, पठन-पाठन की प्रगति को देखते हुए आचार्य श्री को विशेष प्रसन्नता थी।

वृद्धावस्था और आँख का ऑपरेशन, फिर पीठ पर हुए एक मेद की गांठ का ऑपरेशन, इस सब वेदना को दृढ़ता के साथ सहन करते हुए, एक रात सोते हुए, पाट पर से नीचे गिर जाने पर, आचार्य श्री को गहरी चोट लगी। गर्दन की हड्डी टूट गई थी। उपरोक्त अवसरों पर की गई डॉ० निरंजननाथजी, रायसाहब कृष्णलाल जी बाफना के सुपुत्र डॉ० अमृतलालजी बाफना तथा डा० शिवनाथचन्दजी की दौड़-धूप व धर्म-सेवा विशेष उल्लेखनीय है। धीरे धीरे आचार्य श्री को स्वास्थ्य लाभ हुआ।

वि० सं० १९८३ के श्रावण कृष्णा १२ को सायंकाल आचार्य श्री को कुछ तकलीफ हुई जिससे आपका चित्त घबराने लगा। शारीरिक निर्बलता पूर्ण रूपेण व्याप्त थी, कि सहसा आपकी वाक्-शक्ति भी बिल्कुल बंद हो गई। अमावस्या के प्रातःकाल से तकलीफ विशेष बढ़ती गई, अतः उपयुक्त अवसर आया जानकर समीप रहे संतों ने आपको संथारा करा दिया। दिन के बारह बजे लगभग आपको एक वमन हुई और मध्यान्ह की उसी प्रखर वेला में आपकी पवित्र आत्मा इस नश्वर शरीर का त्याग कर परलोक—वासी हुई।

जोधपुर में सर्वत्र शोक के समाचार व्याप्त हो गए। जनताने बड़े समारोह के साथ आचार्य श्री का अन्तिम समारोह सम्पन्न किया।

आचार्य श्री शोभाचन्दजी म० के शासन-काल में संत एवं सतियों की संख्या निम्न प्रकार थी:—

संतों की शुभनामावली—

(१) स्वामी जी म० श्री चन्दनलजी म०
(२) ,, ,, श्री खींवराजजी म०

(३) „ „ श्री हर्षचन्द्रजी म०
(४) „ „ श्री सुजानमलजी म०
(५) „ मु० श्री भोजराजजी म०
(६) „ मु० श्री अमरचंदजी म०
(७) „ मु० श्री लाभचंदजी म०
(८) „ मु० श्री सागरमलजी म०

शासनकाल में नव-दीक्षित सन्त—

(९) मुनि श्री लालचंद जी म०
(१०) „ श्री हस्तीमल जी म०
(११) „ श्री चौथमल जी म०
(१२) „ श्री लक्ष्मीचंद जी म०

आपके शासन काल में लगभग ४०-४२ सतियां थीं।

शासन-काल में नव-दीक्षित सतियों की शुभ नामावली—

(१) महासतीजी श्री केवल कुंवर जी म०
(२) „ „ झमकू जी म०
(३) „ „ किसन कं० जी म०
(४) „ „ रूपकंवर जी म०
(५) „ „ अमृतकंवरजी म०
(६) „ „ केवलकंवरजी म०
(७) „ „ धूलाजी म०
(८) „ „ सज्जनकंवर जी म०
(९) „ „ सुगनकंवर जी म०
(१०) „ „ छोगांजी म० महामन्दिर वाला
(११) „ „ किसन कं० जी म०
(१२) „ „ रतन कं० जी म०
(१३) „ „ चेन कं० म०
(१४) „ „ हुलास कं० जी म०
(१५) „ „ सुवाजी म०
(१६) „ „ धूला जी म०

आचार्य श्री रतनचंदजी म० के उपदेश की झांकी

(१)

मानव कामिनी के पीछे अपनी मान-मर्यादा को भूल कर वेभान वन जाता है। पद प्रतिष्ठा और ख्याति को लात मार, वह दिन रात पर-स्त्री के पीछे पागल वना फिरता है। विषय की वेहोशी में उसे यह भी सुध नहीं रहती कि मैं कौन हूँ और क्या कर रहा हूँ? ऐसे ही दिवानों को आचार्य रतनचंद जी म० कहते हैं—ऐ मानव! परस्त्री की ओर बुरी नजर से न देख और न उसके पीछे पागल की तरह भटकता फिर, स्त्री नरक की निशानी और अशुचिता की खान है। तेज, पराक्रम और सौन्दर्य को पीलन करने में वह कोल्हू के समान है। रावण पद्मोत्तर और कीचक राजा ने इसी कारण से अपना सर्वनाश किया था।

जिस ब्रह्मरूप पानी से माणक उत्पन्न होता है अथवा मुख पर लाली छायी रहती है, उसे व्यर्थ पर घर मत वहा। इसके दुरुपयोग से आयु घटती और तन भी क्षीण होता है। होश, जोश खामोश पड़ जाते हैं एवं चमक दमक हवा होजाते हैं। घृणा, अपवाद और हंसी के सिवा कुछ भी हाथ नहीं आता, इस तरह दोनों लोक विगड़ते हैं।

(२)

वहुधा मलीन मन वाले भी साधु वेष धारण कर समाज में अपनी साधुता का लाभ लूटना चाहते हैं। उनके वाहरी रंग-ढंग और आकार-प्रकार को देख कर, उनका वास्तविक स्वरूप पहचानना कोई आसान नहीं है, किन्तु उनके मानस में अनुपल विषय-वासना की भट्टी जलती रहती है। ऐसे ही "विष्कुम्भ पयोमुख" जन को आचार्य कहते हैं कि—संत दशा को साधे विना वेष वदल कर संत कहलाना, शेर की खाल ओढ़ कर शेर वनने के समान है।

अन्तर में भोग की भावना रख कर योग का दिखावा करना कपट

क्रिया है, आत्म वंचना है। इसका परिणाम कभी भी अच्छा नहीं होता। कपट की कलई एक न एक दिन खुल ही जाती है। अतः यदि वाना बदला है तो उसका विरूद भी निभा। कहा है—"वाना को विरुद्ध दोहे लो, थारी सकांत हो तो झेलो रे।"

(३)

यह देखा जाता है कि लोग निन्दा की बात सुन कर तिलमिला उठते और निन्दकों को अपना प्रबल शत्रु समझने लगते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं आचार्य श्री कहते हैं—"निन्दा मोरी कोई करोरे, दोष बिना सोच न कोय" अर्थात् भले कोई मेरी निन्दा करे, यदि मैं दोष रहित हूँ तो मुझे कोई चिन्ता नहीं है। उल्टे निन्दा करने वाला मेरा उपकारी है। क्योंकि अपने को मलिन करके भी वह मुझे निर्मल बनाता है साबुन और पारिश्रमिक के बिना ही वह कर्म मैल को धो देता है, भला! ऐसे को उपकारी नहीं तो शत्रु कैसे कहें?

(४)

लोग ईश्वर की खोज में सारे भुवन में भटका करते हैं, मगर फिर भी वह नहीं मिलता। क्योंकि ईश्वर का निवास न तो कोई खास गांव और न नगर ही है। वह न तो घर में रहता है और न वन में ऐसी स्थिति में भावुक भक्त को उसकी भेंट दुर्लभ दिखाई देती है और वह "नगरी २ द्वारे २ ढूंढूं रे सांवरिया" कहते बावरा बन जाता है। आचार्य श्री कहते हैं "तू क्या ढूंढ़े वन में–तेरा नाथ बसे नैनन में।" लोग प्रयाग, बनारस, वृंदावन और पालीताना आदि में अपने वल्लभ को ढूंढ़ते हैं, परन्तु पता नहीं कि वह वल्लभ मेरे भीतर में ही विराजमान है। ऐ मन! निश्छल भाव से अपने घट में खोज तो वह जरूर मिल जायगा। कहावत भी है "मैं जानूं हरि दूर है, हरि हिरदा के मांय" आवश्यकता है माया व मिथ्यात्व के पर्दे को दूर करने की फिरतो उसे सहस्रांशु की किरणें अन्तर्बाह्य सर्वत्र आलोकित कर देंगी।

(५)

मनुष्य में अपने को उच्च व दूसरों को निम्नरूप में देखने की

आदत सी हो गई है। संसार के सारे कलह कोलाहल इसी के परिणाम हैं। आचार्य श्री कहते हैं कि–समता रस की प्याली का पान करो, इससे सभी क्लेश टल जाते हैं। समता मुक्ति की सीढी और उल्टा "तामस" नरक की सीढी है।

(६)

मृत्यु की निश्चित घड़ी की किसी को कोई खबर नहीं रहती। राजा या रंक सभी इसके लिए बराबर होते हैं और नियत समय में उसकी गोद में चले जाते हैं। अतः तू जो भी नेकी काम करना चाहे, जल्द करले। किसी भी काम को कल के भरोसे पर मत छोड़। पता नहीं तुम्हारा कल कभी आयेगा भी या नहीं? आचार्य श्री इसी भाव को दर्शाते हुए कहते हैं कि–काल का कोई भरोसा नहीं कि वह किस समय आता है। बाप दादा के रहते पोता विदा हो जाता है। जिस भवन को लाखों के खर्च से बनवाया एक दिन भी उनमें शान्ति से बैठ नहीं सका और जीना चढते ही गिर कर प्राण से हाथ धोना पड़ा।

(७)

जीभ का संयम किए बिना मनुष्य सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। सकल गुणों के होते हुए भी अगर जबान खराब है तो वह विविध व्यंजनों के बीच दुर्गन्ध की तरह दोषपूर्ण है। जीभ चाहे तो मनुष्य को सिंहासन पर बिठा दे या हाथी के पावों तले कुचला दे।

इसलिए रतनचंदजी महाराज कहते हैं कि ऐही जीभ! तू बिना विचारे मत बोल, नहीं तो तेरी कीमत घट जायेगी। चतुर व्यक्ति वचन से ही उसका मोल कर लिया करते हैं। व्यर्थ की बात करने से, अपयस ही बढता है और कभी कभी बने बनाये कार्य भी बिगड़ जाते हैं।

(८)

संसार में कर्म का फल भोगना ही पड़ता है चाहे कोई भी क्यों न हो? कोई कभी राज्य करते दिखाई देता और कभी भिखारी बने भीख मांगते नजर आता है। कभी स्वर्णजटित हौदे से युक्त हाथी की सवारी करता तो कभी धूल धुसरित गदहे भी नहीं मिल पाते।

कभी नरक निगोद में वसता और कभी अवतारी देव वन कर आनन्द लूटता है। वडे २ वृक्षों के पत्ते छोटे और छोटों के वडे होते हैं। पतिव्रता स्त्री सुत हीना और कुलटाओं की गोद भरी होती है। मूर्ख राज्य करता है और पंडित जन भीख मांगते हैं। रतनचन्द जी महाराज कहते हैं कि—कर्म की गति वड़ी विचित्र होती है। यह किसी को भी स्ववश किए विना नहीं छोड़ती।

(६)

आजकल लोग वात २ में पर निन्दा करते नहीं थकते। दूसरों के तिल जैसे छोटे दोप भी उन्हें पहाड़ की तरह वड़े दिखाई देते हैं। उनकी आंखों में संसार छोटा और वे ही सवसे वडे हैं। ऐसे पर निन्दकों के प्रति आचार्य श्री का कहना है कि ऐ मनुष्य! तू क्यों पर की निन्दा करता हैं? इससे तुम्हारा कौन सा उपकार होता है। तुम्हें कस्तूरी मृग की तरह अवगुण छोड़कर गुण ग्रहण करना चाहिए। जिससे सर्वत्र गुण ही गुण विकसित होवे।

पर निन्दा के समान दूसरा कोई वड़ा पाप नहीं हैं, इससे सम्यक्त्व का नाश हो जाता है। आगम में पर निन्दकों को पीठ के मांस भक्षक की तरह निन्दनीय माना गया है।

(१०)

संसार में वहुतेरे लोग ऐसे हैं जो मारे घमण्ड के फूल कर गुब्वारा वने रहते हैं। थोड़ी सी विद्या और धन वल पाकर उन्हें मालूम पड़ता है कि संसार में हमसे वड़ा कोई नहीं है। रत्नचन्द जी म० कहते हैं कि रे मूर्ख! तू क्योंकर घमण्ड करता है? देख इस संसार में कितने वली, विद्वान् और अश्वपति क्षण में विलीन हो जाते हैं। यहां कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जिस पर घमण्ड किया जा सके। धन, वल, यौवन, सभी नश्वर और क्षण भंगुर हैं। काल का एक झोंका वडे २ घमण्डियों को पत्ते की तरह उड़ा फेंकता है।

(११)

इस असार संसार में धर्म ही एक सार है, नहीं तो तन धन

यौवन का क्या भरोसा जो बतासे की तरह पानी देखते ही गल जाते हैं। अतः इन सब से विमुख होकर तुम धर्माराधन में लगो। धर्म ही तेरा बेड़ा भवसागर से पार करेगा। माता, पिता, स्त्री, सुत एवं बन्धु बान्धव सब यहीं रह जायेंगे और बाग, बगीचे महल खजाने एक भी साथ नहीं जायेंगे। अतः आचार्य रतनचन्द जी म० कहते हैं कि ऐ भोले जीव! सबको छोड़कर केवल धर्म साधना कर।

(१२)

जो श्रावक होकर अपने धर्म का समुचित पालन नहीं करता, उस के लिए आचार्य श्री कहते हैं कि—जो श्रावक होकर विश्वास घात करता है वह धर्म को लजाता है। जो बिना छाना पानी पीता और जलाशयों में गहरे गोते लगाता, कंदमूल का भक्षण करता, होली पर रंग खेलता और अश्लील बोलता है, परनारी के पीछे भटकता, पैसे के लिए झगड़ता है, ये उत्तम जन के आचार नहीं हैं।

जो मद मांस का सेवन करता, हुक्का चिलम आदि पीता,' रात्रि भोजन करता, ग्राहकों को अच्छी बतलाकर नकली वस्तु देता ऐसे श्रावक भवसागर पार कैसे कर सकेंगे! खाली बादल की तरह जो केवल वचनाडम्बर करता, दूसरों के तिल जितने दोष को बड़ा बतलाता, निन्दा करता, और व्रत नियम की कोई मर्यादा नहीं रखता, स्वार्थ सिद्धि के लिए मिथ्यात्वी देवी देवों के पीछे भटकता है, वह भवसागर से पार कैसे होगा?

रात्रि भोजन और आचार्य श्री रतनचन्दजी

भोजन का उपयोग जीने के लिए है। मनुष्य अपने दैनिक जीवन में, व्यवहार संचालन करते हुए जो शक्ति या वल गंवाता है, उसकी प्राप्ति के लिए उसे भोजन की आवश्यकता होती है। क्योंकि कठोर श्रम के वाद अगर उसे भोजन नहीं मिले तो वह काम करने के योग्य नहीं रह जाता, जिससे जीवन की स्थिति संकटापन्न हो जाती है। अतः भोजन जीवन धारियों के लिए नितान्त आवश्यक समझा जाता है। भोजन से शारीरिक अवयव पुष्ट तथा ओज–वल प्राप्त करते हैं।

संसार की समस्त हलचल, प्रपंच और कोलाहल भोजन के लिए ही है। अगर भोजन की समस्या नहीं रहती तो जगत का यह ढांचा ही नहीं रहता अथवा रहता भी तो उसका स्वरूप आज से सर्वथा भिन्न, किसी और ही ढंग का रहता। ये बड़े बड़े नगर, कल कारखाने, उद्योग व्यवसाय, कृषि और राजनयिक दाव पेंच हर्गिज देखने में नहीं आते। इन सबकी पृष्ठ भूमि में भूख का ही हाथ है और निदान में प्रमुखता भोजन की ही है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अब यह भोजन कब और किस रूप में किया जाय, इस पर अनेक मत हैं। किसी का मत है कि भूख लगने एवं भोजन प्राप्त होने पर कभी भी किया जा सकता है किन्तु यह ठीक नहीं जंचता! इससे अनियमितता और स्वेच्छाचारिता आदि की संभावना रहने से जागतिक व्यवहार भंग होने का भय वना रहता है। अतः सारे संसार में भोजन के वक्त नियत किए गए हैं। उपहारादि को छोड़कर प्रत्येक दिन दो वार भोजन का समय निर्धारित है। यह नियम साधारणतः सारे संसार में लागू है जिसका कि पालन एक ठेठ देहाती से लेकर चतुर नागरिक तक करते हैं।

अधिकतर देखा जाता है कि मनुष्य एक वार का भोजन दिन में और दूसरी वार का रात में करता है। लेकिन रात का भोजन न तो युक्ति

की कसौटी पर और न स्वास्थ्य की तुला पर ही ठीक उतरता है। क्योंकि भोजन के बाद उसकी पाचन क्रिया के लिए कमसे कम उतना समय तो जरूर बचना चाहिए जिसमें वह ठीक रूप से अपने अन्दर की वस्तु को पचाकर यथा स्थान कर सके।

दिन में सांसारिक मिहनत और विविध उलझनों में उलझे रहने के कारण मनुष्य स्वस्थ और स्थिर नहीं रह पाता। और मन की स्वस्थता के अभाव में पाचन आदि क्रिया सही ढंग से नहीं हो पाती जिससे कुछ न कुछ भोजन तत्व पाचन रहित रह जाते हैं जो रात में अच्छी तरह पचकर अपनी निर्दिष्ट नलिकाओं में पहुंच कर रक्त, मज्जा व मांस के रूप में परिणत होते हुए शेष मल बन जाते हैं। रात की विश्राम घड़ी पाचन के लिए उपयुक्त मानी गई है। अतः रात्रि का समय जितना कि पचाने के लिए उपयुक्त है, उतना खाने के लिए नहीं।

दूसरी बात दिन के उजेले में हम अच्छी तरह देख समझकर भोजन कर सकते हैं, जो रात में कभी संभव नहीं। रात के अनदेखे में न जाने कौन २ से जीव भोजन में मिलकर उसे विपाक्त और अभक्ष्य बनादे ? जिस भोजन से हमें लाभ के बदले हानि ही हो सकती है, विद्युत के प्रकाश में कितने ही कीड़े वगैरह उड़ते रहते हैं जो भोजन के पदार्थों में आ मिलते हैं। जिससे भोजन दूषित और अनुपयुक्त होकर कभी २ प्राणघातक भी बन जाता है। अतः रात्रि भोजन जीवन के लिए जितना कि लाभप्रद नहीं उससे भी अधिक हानिप्रद हो सकता है।

यों तो रात्रि भोजन के विरुद्ध बहुतेरे लोगों ने बहुत कुछ कहा है, मगर उसमें जैनाचार्य पूज्य रतनचन्दजी म० के कुछ अनमोल पद्य हैं जो खासकर रात्रि भोजन की हानि प्रदर्शित करते हैं। जिनके पढ़ने से रात्रि भोजन विषयक त्रुटियां चित्र की तरह आंखों के आगे नाचने लग जाती हैं और मन मान जाता है कि रात्रि भोजन भले प्रचलित और प्रख्यात हो मगर वह मानव के लिए लाभदायी और औचित्यपूर्ण नहीं है।

आचार्य रतनचंदजी ने रात्रि भोजन को अन्ध भोजन कहा है। जैसे

अन्धा व्यक्ति बिन देखे ही खलेता है और उसके परिणामों से अनभिज्ञ रहता है, वैसे रात्रि भोजन करने वाले भी भोजन के स्वरूप और परिणाम से अनिश्चित ही रहते हैं। और जीव यातना के कारण नरकवासी बनते हैं। इस सम्बन्ध में आपकी ये कुंडलिया पठनीय हैं।

आन्धो जीमन रात रो करे अधर्मी जीव।
ओछा जीतब कारणे, देवे नरकरी नींव॥
देवे नरकरी नीव रीव करसी भव भव में।
पचसी कुम्भी मांय बले ज्यूं ठूठा दव में॥
परमाधामी जीवड़ा घणी उड़ावे भीख।
रतन कहे तज रात रो सुन २ सतगुरु सीख॥

रात्रि भोजन में तरह २ के जीवों के पेट में चले जाने का भय बना रहता है और उनसे विविध बीमारियां भी उत्पन्न होकर जीवन नाश कर देती हैं। जैसे जूं खाने से जलोदर, मक्खी से वमन, मकड़ी से कोढ़, केश से स्वर भंग, चींटी-कीड़ी से पित्ती, सर्प गरल या बिच्छू से तत्काल मरण। इस प्रकार रात्रि भोजन में तरह २ के दोष हैं। अतः बुद्धिमान् जन को रात्रि भोजन हर्गिज नहीं करना चाहिए। जैसाकि—

जलोदर उत्पन्न हुए, जूं के पड़ियां पेट।
जाय मुख में मक्षिका, वमन करावे नेट॥
वमन करावे नेट धेठ तज मन ढ़ीठाई।
बाल करे स्वर भंग कोढ़ मकड़ो थी थाई॥
कपाली सड़ सड़ मरे बिच्छू तणों सम्बन्ध।
रतन कहे तज मानवी रात्री भोजन अन्ध॥

आगे आचार्य श्री कहते हैं कि जब चिड़ी कबूतर तोता आदि पक्षी भी रात में चुगने के लिए बाहर नहीं आते तब तू नरदेह धारण कर रात में क्यों खाता है? क्योंकि इसमें त्रस प्राणी मारे जाते हैं और कीड़े पंतगे आदि आ-आ कर तुम्हारे भांड में पड़ते हैं। जैसे--

चिड़ी कमेड़ी कागला, रात चुगन नहीं जाय।
नरदेह धारी मानवी, रात पड़े किम खाय॥

रात पड़ियां किम खाय जाय मार्‌या त्रस प्राणी।
कीट पतंग्या कुंथुआ पड़े भाणा में आणी॥
लट्ट गिजाई सुल सली ईली अन्ड समेत।
रतन कहे धिग् तेह नें खावे कर कर हेत॥

वेद पुराण का भी मत है कि एक वर्ष में रात्रि भोजन के त्याग से मनुष्य को ६ मास के पूर्ण भोजन त्याग का फल मिल जाता है और इस प्रकार मन में समता आने से अमर पद प्राप्त होता है। जैसे—

रात्रि भोजन दोष अति, देखो वेद, पुराण।
एक वर्ष रा त्याग में, छमासी पचक्खान॥
छमासी पचक्खान आन नर मन में समता।
पामे अमर विमान् मिले सुख मन में गमता॥
रतनचन्द धन मानवी सुन सुन दे छिटकाय।
अल्प दिनां रे मांहिनें अमरा पद में जाय॥

किसी ने बन्धु बान्धव समेत रात्रि भोजन करते हुए, चूहे को आम की फांक समझकर मुख में डाल लिया और इस प्रकार सारा भोजन खराब हो गया। स्निग्ध; सरस आहार में कीड़े फैले हुए थे जिनको कि रात्रि भोजन करने वाले मनुष्य ने खाया। रतनचंदजी महाराज कहते हैं कि ऐसे दूषित भोजन करने वालों की बुद्धि छः मास में खराब हो जाती है। जैसे—

करतां भोजन रात रो, न्यात जात परिवार।
केरी ज्यों मुख में लियो, मूषातणों आहार॥
मूषातणों आहार छार पड़ी सिर ऊपर।
सनिग्ध सरस आहार कीट छायो खायो नर॥
चटकां देतां चमकियो मुंडो दियो मुकलाय।
रतन कहे छः मासनी बुद्धि भ्रष्ट हो जाय॥

रात्रि भोजन करने वालों को ऐसी ही जीव योनियों में जन्म लेना पड़ता है जो दिन के बदले रात्रि में ही चर सकें। जैसे वागल जो उल्लू

की तरह होता है और चमगीदड़ की तरह पांव ऊंचा और शिर नीचा कर पेड़ों पर लटका रहता है। और भी कितने मांसाहारी जीव रात में ही आहार करते हैं। इसलिए आचार्य रतनचन्द जी कहते हैं कि रात्रि भोजन छोड़ने से ही नरनारी धन्य दिख सकते हैं नहीं तो गवार या पशु की तरह दिखेंगे। जैसे--

हुए घुघ्घू ने वागलां, पग ऊंचा सिर हेठ।
चमचेड़ां ज्यूं लटकता, राते भरभर पेट॥
राते भरभर पेट मेट नर मन री ममता,
मांसाहारी जीव कह्या नर राते चरता।
रात्रि भोजन त्याग दे धन्न तिके नरनार,
रतन कहे राते भखे ते कहिए पशु गमार।

मार्कण्डेय पुराण और शिवमत में भी लिखा हुआ है कि सूर्यास्त के वाद जो नरनारी भोजन करते हैं, उनका अन्न मांस के समान और जल रक्त की धार की तरह समझना चाहिए। जव किसी के घर में कोई मर जाता है तो घर भर में सूतक (अशौच) होकर भोजन निषिद्ध वन जाता है। फिर सूर्यरूप जगत के पालन हारे के डूवने से सूतक में सूर्य का उपासक आदमी कैसे खाता है ? अर्थात् सूयास्त के वाद हर्गिज नहीं खाना चाहिए।

अन्न मांस समदाखियो, लोही ज्यूं जल धार।
सूर्य अस्त हुआं पछे, जे खावे नरनार॥
जे खावे नरनार धार शिव मतनी वाणी।
मारकण्ड नाम पुराण ताहिमें ये विध आणी॥
मरे मुदायत मानवी घर सूतक हो जाय।
'रतन' कहे सूरजमती अस्त हुआ किम खाय॥

मुसलमान रात में खाते हैं और हिन्दू दिन में ही। रात में खाने वालों का व्रत रोजा की तरह जानना चाहिए। रात का भोजन अखाद्य की तरह है। क्योंकि उसमें अनजाने भी जीवों का आहार करने से यमघर जाना पड़ता है। जहां विष्ठा और जलता अंगार आदि मुख में रक्खा

जाता है। अतः "रतन" चन्दजी म० कहते हैं कि हे नर नारियों ! रात्रि भोजन का त्याग करो। जैसे—

मुसलान राते भखे, हिन्दू दिवस प्रमाण।
तिकियो खायण रातरो, अनरोजा जिम जाण॥
अनरोजा जिम जाण खान ए अन्नन बरोबर।
फर फर जीव अहार जाय उपजे जनके घर॥
यो नर विष्ठा मुख में ठवे चलचलता अंगार।
'रतन' कहे तिण कारणें त्याग करो नर नार॥

वस्तुतः रात्रि भोजन अनेक विध आपदाओं का कारण है। अतः किसी विशेष कारण के बिना लोगों को भूल कर भी रात्रि भोजन नहीं करना चाहिए।

※ समाप्त ※